विश्वविद्यालय की परीक्षाओं का सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक

नई परीक्षा प्रणाली पर आधारित

डी.कुमार्स® सीरीज

36 EDITION

2021

बी० ए० द्वितीय वर्ष

हिन्दी

द्वितीय प्रश्न पत्र



2021/9/20 14:38

(द) प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद (नयी कविता और अज्ञेय)
(ध) हिन्दी का रामभक्ति काव्य एवं कृष्ण भक्ति काव्य
(न) आंचालिक उपन्यास
(प) केशवदास का आचार्यत्त्व
(फ) संस्मरण एवं रिपोर्ताज (रिपोर्ताज की विशेषताएँ)

खण्ड - 'क'

1 साहित्येतिहास की सामग्री

प्रश्न 1-आदिकाल के नामकरण के सन्दर्भ में विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए आदिकाल के नामकरण के औचित्य पर प्रकाश डालिए। अथवा आदिकाल के नामकरण की समस्या पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए। अथवा आदिकाल के नामकरण सम्बन्धी विवादों की चर्चा करते हुए इस नाम की सार्थकता पर विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर-हिन्दी साहित्य में आदिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में जितनी मत भिन्नता दिखाई देती है उतनी किसी अन्य काल के विभाजन में नहीं दिखती। सभी विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से उपयुक्त प्रमाणों द्वारा इस काल के नामकरण के औचित्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। आदिकाल के नामकरण की विस्तारता पर न जाकर हम संक्षिप्त रूप से इसके मुख्य नामों का यहाँ पर विवेचन कर रहे हैं। जहाँ तक इस काल के नामकरण का प्रश्न है- आदिकाल को चारण काल, संधिकाल वीरगाथा काल आधार काल एवं सिद्ध सामन्त युग आदि नामों से अभिहित किया गया है।

चारण काल-चारण काल पर कर्नल टाड महोदय ने अपनी पुस्तक एनल्स एण्ड एन्टी क्विटीज ऑव राजस्थान में लिखा है आदि कालीन साहित्य की रचना चारणों ने की है। राजदरबारों में यह चारण रहा करते थे जो अपने आश्रयदाता राजाओं की कीर्ति, उनके शौर्य पराक्रम तथा उनके उत्साह की प्रभावोत्पादक कवितायें लिखा करते थे। इस प्रकार के चारणों का एक वर्ग राजदरबारों में फैला हुआ था जो कवि कर्म द्वारा अपनी जीविका चलाता था इसलिए जार्ज ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम आदि काल के लिए चारण काल नाम का प्रयोग किया है। कालान्तर में लाला सीताराम अवध वासी ने अपने द्वारा संपादित 'सलेक्शन फ्राम हिन्दी पोइट्री' नामक ग्रन्थ में उसका प्रयोग किया था। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी अपने आलोचनात्मक इतिहास में इसी काल को मान्यता दी है। मगर यह नामकरण ठीक नहीं है। कर्नल टाड का ग्रन्थ किंवदन्तियों, मनगढ़न्त बातों, असामाजिक सूचनाओं और सुनी-सुनायी कथाओं का संग्रह मात्र है। यह नामकरण उसी पर आधारित होने के कारण उचित नहीं प्रतीत होता। इतिहास की खोज से ज्ञात होता है कि चारण जाति का आगमन सिन्ध की ओर से चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। राजस्थान के राजाओं से उनका सम्पर्क पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। इसलिए बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के रचनाकारों को चारण कहना युक्तिसंगत नहीं है। यदि हम उस काल के सारे रचनाकारों को चारण मान लेंगे तो उस अवधि की समस्त रचनायें चाटुकारिता मात्र बन कर रह जायेंगी। उस कालखण्ड में 'पृथ्वीराज रासो', विजय पाल रासो जयमयंक जसचन्द्रिका तथा जयचन्द्र प्रकाश आदि जो भी रचनाएँ लिखी गयी थीं, उनके कृतिकार भट्ट थे, चारण नहीं थे इसलिए इस काल को 'चारण काल' कहना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

सिद्ध सामन्त युग-महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यधारा' में इस काल को 'सिद्ध-सामन्त युग' कहा है। आठवीं शताब्दी में शबरपा, सरहपा, नवीं शताब्दी में लुईपा, विरुपा सिद्ध कवियों की रचनाएँ मिलती हैं, सिद्धों ने दोहों में रूढ़ियों और पाखंडों का विरोध किया है। नालंदा के विद्वान् सरह ने तो श्रृंङ्गार की रस पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। अधिकतर गुरुस्तुति, साधना, वैराग्य आदि से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। उनकी कृतियों को धार्मिक रचनाएँ कहना ही ठीक प्रतीत होता है। किन्तु इसी कालखण्ड में जैन कवियों की उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ देखने को मिलती हैं। आठवीं शताब्दी में स्वयंभू देव और नवीं शताब्दी में पुष्यदन्त जैसे महाकवि की उपस्थिति को देखते हुए यदि इसे केवल सिद्ध युग कहेंगे तो उच्चकोटि के जैन कवियों की उपेक्षा हो जायेगी। इससे साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों की अनदेखी करना ठीक नहीं होगा। 'सामंत' शब्द एक विशिष्ट राजनैतिक स्थिति का सूचक शब्द है। सामन्तयुग में रहते हुए भी जैन कवियों ने तत्कालीन धार्मिक रूढ़ियों को जोरदार खण्डन किया और तत्कालीन नायकों को अपने

2021/9/20 14:39

काव्य का चरित नायक नहीं बनाया। उस युग की आर्थिक और सामाजिक अवस्था का वर्णन करते हुए राहुल जी ने सेठों, महन्तों, पुरोहितों और सामन्तों के विलासी जीवन का चित्रण किया है। उनका कथन है कि विलासी होते हुए भी सामन्त मृत्यु से तनिक भी भयभीत नहीं होते थे। पाठक को जब तक तत्कालीन समाज के इतिहास का ज्ञान न होगा तब तक उस समय के साहित्य के इहिास को भी वह समझ नहीं सकेगा। इसके साथ-ही-साथ एक कठिनाई यह भी है कि उस समय के अधिकांश जैन कवि किसी-न-किसी सामन्त या राजा के ही आश्रित हुआ करते थे किन्तु उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की कभी खुशामद या चापलूसी नहीं की। उनके काव्य का विषय धार्मिक है। प्रो० अवस्थी का कथन उचित है कि यदि सामन्तों के संरक्षण में लिखे गये काव्य के कारण यदि इस काल का नाम सामन्त काल रखा जाये तो रीतिकालीन समस्त काव्य को इसी श्रेणी में रखना पड़ेगा क्योंकि अधिकांश रीतिकालीन रचनाएँ सामन्तों के आश्रय में ही लिखी गयी हैं। रीतिकालीन सामन्तों आश्रय में जो कविताएँ लिखी गयी हैं उसके सम्बन्ध में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए राहुल जी लिखते हैं कि 'वह अधिकांश थोथी चापलूसी है, यह हमें मालूम है। किन्तु सम्पूर्ण रचनाओं को चाटुकारिता से युक्त नहीं माना जा सकता है। जो इस काल की उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ हैं उनको किस वर्ग में रखा जायेगा? वस्तुतः इस नामकरण में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की अवहेलना कर दी गयी है। वह तथ्य यह है कि साहित्य के सत्य और इतिहास या गणित के सत्य में अन्तर है। साहित्य में इतिहास के सत्य पर बहुत बल नहीं देते। दुष्यन्त अपने समय का लम्पट राजा रहा होगा किन्तु दुर्वासा के शाप की कल्पना करके कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में उसे नायक बना डाला। साहित्य का, सत्य भावना कल्पना का सत्य होता है। यहाँ पर प्रमदाओं के पदाघात से अशोक पुष्पित होता है। हंस में नीर क्षीर विवेक होता है, पपीहा स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है, चकोर अंगारे चुनता है। साहित्य में अभिव्यक्ति कौशल और संवेदनाओं की प्रभावोत्पादकता का महत्त्व है। इसलिए केवल सिद्ध कहने से जैन आदि कवियों की महत्त्वपूर्ण कृतियों की उपेक्षा हो जायेगी और सामन्त कहने से साहित्यिक का बोध नहीं होगा अतः इस काल का नामकरण सिद्ध सामन्त युग रखना ठीक नहीं लगता।

संधि काल-डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इस काल का नाम संधिकाल रखा है। उन्हीं के शब्दों में..."अतः जब साहित्य के वृन्त पर जनभाषा अपनी पंखुरियाँ खोलना प्रारंभ करती है तो उसके ऊपर पुरातन अनुबन्धों का आग्रह तो रहता ही है। जनता के मनोभावों से प्रेरित ऐसे साहित्य में प्राचीन शैली के भीतर नवीन प्रयोगों की कसमसाहट दीख पड़ती है। यह कसमसाहट धीरे-धीरे उभरती हुई अपने पंख खोलती है और अपने लिए साहित्य में मान्यता प्राप्त कर लेती है। अतः अपने विकास में साहित्य ऐसे स्थल पर आ जाता है जहाँ दो भाषाओं या दो शैलियों में सन्धि होती है और साहित्य के इस काल को सन्धिकाल कहना ही अधिक समीचीन है।" डॉ० मोहन अवस्थी डॉ० वर्मा के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि, "लेकिन संधि-काल की तो कोई स्थिति ही नहीं है क्योंकि हर दो कालों के बीच संधि होती है। फिर संधिकाल से साहित्य की किसी गतिविधि का ज्ञान भी नहीं होता।" इसलिए इस काल को संधिकाल नहीं कहा जा सकता ।

वीरगाथा काल-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इस काल को वीरगाथा काल कहा है। उन्होंने जिन साहित्यिक ग्रन्थों के आधार पर प्रवृत्ति का निश्चय किया था उनके नाम हैं पृथ्वीराजरासो, खुमाण रासो, परमाल रासो, जयमयंक, जस चन्द्रिका, जय चन्द्र प्रकाश, रणमल्ल छन्द, विद्यापति की पदावली और खुसरो की रचनाएँ नवीन शोधों के आधार पर पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो,परमाल रासो, विजय पाल रासो अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं। मधुकर कवि कृत जय मयंक जय चन्द्रिका और भट्ट केदार रचित जयचन्द्र प्रकाश का उल्लेख केशव दास लिखित 'राठौर' की ख्याति' में उपलब्ध है 'हम्मीर रासो'की भी कोई पाण्डुलिपि मिली नहीं है। लक्ष्मीधर रचित 'प्राकृत पैंगलम्' में उद्धृत 'चलिय वीर हम्मीर' को देख कर शुक्ल जी ने समझा था कि 'यह हम्मीर रणथंभौर के नरेश वीर हम्मीर होंगे किन्तु आधुनिक शोध से ज्ञात हुआ है कि अरबी शब्द अमीर संस्कृत में गढ़ा हुआ शब्द हमीर है। अरबी अमीर शब्द का अर्थ है धनी शासक, हाकिम संस्कृत हम्मीर शब्द तुर्क बादशाह का ही अर्थ प्रदान करता है। सन् 1168 ई० के गाहड़वाल शासक विजयचन्द्र के दान पत्र में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्व भी गोविन्द देव की प्रशस्ति में लिखा गया है...."हम्मीर न्यस्त बैरं मुहस्थ समरक्रीड़ायां यो विधत्ते।" इस प्रकार पहले तो सारी सामग्री ही अप्रामाणिक सिद्ध हो गयी दूसरे सभी रासों काव्यों की 'वीर गाथात्मकता' भी असिद्ध हो गयी है। 'पृथ्वीराज रासो' मूलतः एक प्रेमकाव्य है जिसमें युद्धों का वर्णन मुख्य

2021/9/20 14:39

रस शृङ्गार को अधिक प्रगाढ़ बनाने के लिए किया गया है। बीसलदेव रासो तो पूरा का पूरा शृंङ्गार काव्य ही है। सन्देश रासक,ढोला मारुरा दूहा, चन्दायन तथा विद्यापति की पदावली भी शृङ्गार सम्बन्धी कृतियाँ ही हैं। बौद्ध और जैन काव्य तो धार्मिक रचनाएँ हैं। इन सबसे शुक्ल जी की वीरगाथात्मक अवधारणाएँ स्वत: निरस्त हो जाती हैं। इसलिए इस काल का नामकरण 'वीरगाथाकाल' नहीं रखा जा सकता।

प्रारम्भिक काल-मिश्र बन्धुओं ने इस काल को प्रारम्भिक काल कहा है और उसे पुन:दो खण्डों-पूर्व प्रारम्भिक और उत्तर प्रारम्भिक नामक वर्गों में विभाजित किया है। यह नामकरण भी सर्वथा अवैज्ञानिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि..."सारे रचनाकाल को आदि, मध्य, पूर्व उत्तर इत्यादि खण्डों में आँख मूंद कर बाँट देना, यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है क्या नहीं, किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकते।" इस प्रकार इस नाम को भी उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

आदिकाल-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर इसका नामकरण वीरगाथा काल तो किया था, फिर भी सर्वप्रथम उन्होंने ही इसका नाम आदिकाल लिखा था। आदिकाल नाम की स्वीकृति डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी दी है। उन्होंने लिखा है कि "यदि पाठक भ्रामक धारणा से सावधान रह सके तो यह नाम बुरा नहीं है।"

आदिकाल नाम पर आपत्ति प्रकट करते हुए डॉ० मोहन अवस्थी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास' में लिखा है कि-"आदि शब्द के विरुद्ध सबसे बड़ी और सर्वप्रथम आपत्ति यह है कि यह शब्द अपनी व्यंजना के कारण अत्यन्त भ्रामक है। 'आदि' शब्द से विकासधारा की प्रारम्भिक अवस्था का बोध होता है। जिस प्रकार सृष्टि का आदि उसकी ऊबड़-खाबड़ असभ्य दशा का सूचक है उसी प्रकार साहित्य का आदिकाल चिन्तन की प्रथम सीढ़ी की ओर संकेत करता है और कल्पना, छन्द प्रबन्ध आदि के बाल-प्रयास का सूचक है किन्तु जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं वह इस धारणा के एकदम प्रतिकूल साहित्यिक सम्पन्नता वैचारिक परिपक्वता का काल है।"

आधार काल-डॉ० अवस्थी लिखते है कि इस काल में देशी भाषाओं का विकास हो रहा था इसलिए हम इसे भाषा का'आदिकाल' कह सकते हैं। परन्तु भाव,शैली, रस, सन्देश, छन्द सभी क्षेत्रों में वह अत्यन्त आढ्य एवं स्वयं पूर्ण है। हिन्दी साहित्य की अगली पीढ़ी ने उसका 'मुक्त हृदय से उपभोग किया है। इस दृष्टि से इसे हिन्दी साहित्य का आधार काल कहा जाना चाहिए। आगामी काव्यप्रसाद इसी नींव पर खड़ा हुआ है संस्कृत की दृढ़ भूमि पर नहीं। आधारकाल नामकरण में 'वीरगाथा काल' आदि काल,चारणकाल, संधिकाल, सिद्ध सामन्त युग आदि नामों से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति की गुंजाइश नहीं है। अत: हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को 'आधार काल'नाम देना मैं अत्यन्त उपयुक्त, सार्थक एवं सुसंगत समझता हूँ।

किन्तु यह नामकरण भी अत्यन्त भ्रामक है। आदिकाल को आधार काल कहने पर भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल को आधेय काल मानना पड़ेगा। विभिन्न काल खण्डों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव हमारे समाज पर पड़ते रहे हैं। सबसे बड़ा तो राजनीतिक प्रभाव था। मुस्लिम आक्रमण से उत्पन्न प्रभाव। अपनी सामाजिक एवं धार्मिक सुरक्षा के लिए किये जाने वाली इस देश की बहुसंख्यक जाति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया। उसके पश्चात् इस्लाम धर्मावलम्बी विदेशी शासकों के यहाँ बस जाने पर उपजी गंगा-जमुनी संस्कृति से प्रभावित साहित्य का एक अपना अलग ही रूप है जिसके बीज प्रारम्भिक काल में नहीं मिलते। इसी प्रकार अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से उपजी बुद्धिवादी यथार्थवादी दृष्टि से लिखा गया काव्य फिर गद्य की विविध विधाओं का विकास जो आधुनिक काल में दिखलायी पड़ता है उसके बीज तथा कथित आरम्भिक काल म उपलब्ध नहीं है। वे सारी प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार के प्रभावों से उत्पन्न होती है जो 10वीं शताब्दी में कहीं दिखलायी नहीं पड़ती।

साहित्य का इतिहास अलग-अलग काल खण्डों में उपजी साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं उनके कारणों का विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। 'आदि' शब्द किसी काल के प्रारम्भ को भी संकेतित करता है। साहित्यिक कालक्रम को बतलाने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इससे किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रस्तावित एवं समर्थित होने के कारण हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को आदिकाल कहना सबसे उपयुक्त है।

2021/9/20 14:39

प्रश्न 2-हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का सामान्य परिचय देते हुए साहित्य के इतिहास लेखन के सिद्धान्तों का निरूपण कीजिए। अथवा
हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन तथा उसकी परम्परा का उल्लेख करते हुए इस परम्परा के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के योगदानों का वर्णन कीजिए। अथवा
हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी का क्या योगदान है? अथवा
साहित्य के इतिहास दर्शन का संक्षिप्त परिचय देते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में आदिकाल से सम्बन्धित अन्तः साक्ष्य विषयक सामग्री पर प्रकाश डालिए। अथवा
हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याओं पर अपना मत प्रकट करते हुए एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए। अथवा
हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के योगदानों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर-

हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन

हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन की परम्परा का शुभारम्भ कब हुआ यह एक विवादास्पद प्रश्न है। शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर कुछ हिन्दी समालोचक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन परम्परा से सम्बन्धित प्रथम प्राचीनतम् ग्रन्थ संवत् 770 में भोज के पूर्ववर्ती शासक राजा मान के सभासद पुण्ड अथवा पुष्य द्वारा विरचित एक अलंकार ग्रन्थ को माना है। शिवसिंह सेंगर के कथन का आधार कर्नल टॉड द्वारा लिखा गया 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ है। परन्तु किसी प्रामाणिक साक्ष्य के अभाव अधिकांश प्रवृत्ति विद्वान पुष्य द्वारा लिखित इस अलंकार शास्त्र से सम्बन्धित प्रथम इतिहास लेखन परम्परा का ग्रन्थ मानने के लिए तैयार नहीं है। अधिकांश हिन्दी विद्वान हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की शुरूआत आधुनिक काल की देन मानते हैं। यद्यपि हिन्दी के भक्त और संत कवियों से सम्बन्धित विवरण भी मिलते हैं जिन में गोकुल नाथ के चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवन् की वार्ता, नाभादास के भक्तमाल, वेणीमाधवदास के गोसाईं चरित्र, भक्त नामावली आदि में मिलता है। इसके अतिरिक्त टॉड के राजपूताने का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज, रिपोर्ट, मोतीलाल मेवारिया के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज से प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। किन्तु वास्तविक इतिहास लेखन बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा- 19वीं शताब्दी के अन्त तक अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ जिनमें हिन्दी साहित्य के निर्माताओं के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें समग्र ऐतिहासिक चेतना का अभाव है, कवियों का निर्देश, धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष की भावना से किया गया है व्यक्तित्त्व अथवा कृतित्त्व को ध्यान में रखकर नहीं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का सर्वप्रथम लेखक फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तासी को माना जाता है। उन्होंने फ्रेंच भाषा में, 'इस्त्वारदला लितेरान्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' नामक ग्रंथ में हिन्दी और उर्दू भाषा के अनेक कवियों और कवयित्रियों का परिचय दिया। तांसी का यह प्रयास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने हिन्दी के प्रधान कवियों का जीवन-चरित्र और उनके काव्य ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया है, साहित्यगत प्रवृत्तियों की चर्चा नहीं की है और न ही काल-विभाजन का कोई प्रयास किया है। तांसी के ग्रन्थ का महत्त्व उसकी उपलब्धियों के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने के प्रारम्भिक स्तुत्य प्रयास की दृष्टि से आँकना चाहिए। इस रूप में तांसी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा का श्रीगणेश करने वाले तथा प्रवर्तक ठहरते हैं।

इस परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज'** है जिसमें लगभग एक हजार कवियों के जीवन-चरित और उनकी कविताएँ उद्धृत हैं। कवियों की जन्मतिथि और कृतियों के रचनाकाल आदि के भी संकेत इसमें किये गये हैं जो अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। तांसी के ग्रन्थ में हिन्दी कवियों की संख्या 70 से कुछ अधिक थी जो शिवसिंह सरोज में बढ़कर एक हजार हो गयी है। इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिक महत्त्व नहीं है तथापि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए उपयोगी सामग्री को व्यापक रूप से संकलित किया गया है यही इसकी विशेषता है। **जार्ज ग्रियर्सन के** The Modern Vernacular Literature of Hindustan **'का प्रकाशन सन्** 1822 **ई० में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के**

2021/9/20 14:39

विशेषांक के रूप में हुआ जिसका आधार मुख्यतः शिवसिंह सरोज हैं। लेकिन इसमें काल विभाजन के साथ-साथ समय-समय पर उठी प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। ग्रियर्सन का प्रयास अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। इसे सच्चे अर्थों में हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास माना जा सकता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के स्वरूप और विकास से सम्बद्ध जिन मान्यताओं की स्थापना की वही आगे चलकर इतिहास लेखकों का पथ-प्रदर्शक बन गया। इन्होंने तांसी और शिवसिंह सरोज के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईं चरित्र, हजारा आदि ग्रन्थों तथा अन्य संग्रहों की सामग्री का उपयोग किया है। इसमें एक सच्चे इतिहास लेखक के तटस्थता, ईमानदारी, समन्वयात्मकता, ऐतिहासिक चेतना तथा समग्रता आदि लक्षित होते हैं। उन्होंनें अपनी इतिहास सामग्री को काल-क्रमानुसार रखा। काल-विभाजन करते हुए प्रत्येक अध्याय को काल विशेष का सूचक बनाया तथा प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस काल के गौण कवियों का उल्लेख किया। प्रत्येक काल की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, चारण काव्य, धार्मिक काव्य तथा दरबारी काव्य रूप में रखकर भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल घोषित किया। इस प्रकार तांसी हिन्दी साहित्य के इतिहास के सर्वप्रथम लेखक ठहरते हैं तो जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक पद्धति पर सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया।

इतिहास-लेखन की परम्परा में मिश्र बन्धुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने चार खण्डों में मिश्रबन्धु-विनोद लिखा है। इसमें पाँच हजार से अधिक कवियों के विवरण दिये गये हैं। इससे अनेक अज्ञात कवि प्रकाश में आये तथा साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालकर साहित्यकारों का साहित्यिक मूल्यांकन कर उनकी श्रेणियाँ बनाई गयी हैं। उन्हें इतिहास लेखन में अपने पूर्ववर्ती इतिहास लेखकों से अधिक सफलता मिली। परवर्ती इतिहास लेखकों के लिए यह एक आधार ग्रंथ का काम करता रहा है।

आदिकाल से सम्बन्धित अन्तः साक्ष्य- हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल सम्भवतः सर्वाधिक विवादित काल है। सीमा निर्धारण, नामकरण एवं प्रवृत्ति जैसे विषयों पर आज भी किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है। लगभग सभी विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार इस काल का विश्लेषण किया है और अपने विचार के पक्ष में पर्याप्त तर्क भी दिया है। अत्यधिक विश्लेषण ने भी इस काल को उलझा दिया, जिसके कारण कोई सर्वसम्मत निर्णय असम्भव ही लगता है।

सबसे बड़ी समस्या इस काल के नामकरण को लेकर है। हिन्दी साहित्य के अन्य किसी भी काल का इतना अधिक नामकरण नहीं हुआ जितना कि इस काल का। 'आदिकाल', 'चारणकाल', 'संधिकाल', 'वीरगाथाकाल', 'सिद्धसामन्त युग' और 'आधारकाल' आदि अनेक नाम अपने-अपने पक्ष में तर्कों की एक मजबूत नींव पर खड़े हैं।

कर्नल टाड ने अपने ग्रन्थ 'एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' में सर्वप्रथम इस काल को चारणकाल कहा था। उनका तर्क था कि चूँकि आदिकाल का साहित्य चारणों ने लिखा था जो राज दरबारों में रहा करते थे और अपने आश्रयदाताओं की कीर्ति, उनके शौर्य तथा उनके उत्साहवर्धन हेतु प्रभावोत्पादक कविताएँ रचते थे और अपने कवि कर्म द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। अतः इस आधार पर इसे चारणकाल कहना उचित ही होगा। **डा० ग्रियर्सन एवं डा० रामकुमार वर्मा** भी इसी नाम की पुष्टि करते हैं। किन्तु यह तर्क उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक तो भारत में चारणों के आगमन का काल विवादित है। दूसरे इस मान्यता के अनुसार तो साहित्य की रचना चारणों के अतिरिक्त और किसी ने की ही नहीं जो नितांत गलत है। **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी** इस काल को समय सीमा के आधार पर आदिकाल कहते हैं। किन्तु **मोहन अवस्थी** के अनुसार "आदि शब्द के विरुद्ध सबसे बड़ी और पहली आपत्ति यह है कि यह शब्द अपनी व्यंजना के कारण अत्यन्त भ्रामक है। 'आदि' शब्द से विकास धारा की प्रारम्भिक अवस्था का बोध होता है, साहित्य का आदिकाल चिन्तन की प्रथम सीढ़ी की ओर संकेत करता है और कल्पना छन्द प्रबन्ध आदि के बल प्रयास का सूचक है, किन्तु जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं वह इस धारणा के एकदम प्रतिकूल साहित्यिक सम्पन्नता तथा वैचारिक परिपक्वता का काल है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इस काल को वीरगाथा काल कहा है। उन्होंने पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, परमाल रासो, जयमयंक जस चन्द्रिका, विजय रासो, आदि ग्रन्थों की वीरताप्रधान प्रवृत्ति को देखते हुए ही इस काल को वीरगाथा काल के नाम से अभिहित किया किन्तु इनमें से अधिकांश ग्रंथों की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है, दूसरे ऐसा नहीं कि इस काल में वीर रस के अलावा अन्य विषयों पर काव्य रचना हुई

2021/9/20 14:39

ही नहीं। अतः यदि इस नाम को स्वीकार कर लिया जाय तो इस काल की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपना अस्तित्त्व ही खो देंगी।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यधारा' में इसको 'सिद्ध सामन्त युग कहा है। तर्क यह है कि सामन्तों के संरक्षण में सिद्धों ने काव्य रचना की। किन्तु इस काल में उच्चकोटि के जैन कवियों की जो सूची है उसे कहाँ ले जाया जाय दूसरे रीतिकालीन समग्र साहित्य ही सामन्तों के संरक्षण में लिखा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी एक नाम इस काल की सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्त्व करने में असमर्थ है ऐसे में या तो आदिकाल को ही उपयुक्त माना जाय आदिकाल शब्द की भ्रामकता से बचते हुए या फिर मोहन अवस्थी द्वारा सुझाया गया नाम आधारकाल जिसके पीछे तर्क है कि हिन्दी साहित्य की वो सभी प्रवृत्तियाँ जिनका आगे चलकर विकास होता है किसी न किसी रूप में आदिकाल में मौजूद हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास का अत्यन्त महत्त्वर्ण स्थान है। यह मूलतः 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था। आगे चलकर इसके परिवर्द्धित रूप को स्वतन्त्र पुस्तक का रूप मिला। रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर उसकी उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का तद्युगीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आदि के व्यापक सन्दर्भों के आलोक में देखकर इतिहास के विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के साहित्यिक मूल्यांकन को अधिक महत्त्व दिया। कवियों के निरूपण में आधुनिक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार काल खण्डों-वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में विभक्त किया है। भक्ति,रीति और आधुनिक काल को नाना धाराओं में विभक्त किया। सरलता और स्पष्टता के कारण शुक्ल जी द्वारा किया गया काल विभाजन बहुत समय तक मान्य और प्रचलित रहा। आज के इतिहास लेखक शुक्ल जी के समूचे काल के विभाजन, काल सीमा निर्धारण, काव्य धाराओं के वर्गीकरण, काव्य धाराओं के मूल स्रोतों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। शुक्ल जी के इतिहास लेखन के समय में हिन्दी के प्राचीन साहित्य प्रायः अज्ञात, अप्राप्य और अप्रकाशित था। अतः उनके सामने एक वैज्ञानिक इतिहास के लिए समृद्ध आधारभूत सामग्री का अभाव था। इससे तथ्य-निरूपण तथा तत्सम्बन्धी निष्कर्षों के प्रतिपादन में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक था। अपर्याप्त सामग्री के कारण उनके इतिहास में एकपक्षीयता है। इसके बावजूद भी हिन्दी साहित्येतिहास-परम्परा में शुक्ल जी का इतिहास मील का पत्थर है। वह अपने विषय का सर्वप्रथम इतिहास है। आज के हिन्दी साहित्य के इतिहास के विशाल भवन की सुदृढ़ नींव आचार्य शुक्ल ने ही रखी।

आचार्य शुक्ल के काल विभाजन और नामकरण का आधार- आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में सर्वप्रथम आदिकाल से लेकर छायावादी-रहस्यवादी युग तक की विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री सुनियोजित एवं सुविचारित काल-विभाजन के आधार पर और साहित्यिक ढंग से उपस्थित की गयी है। यह इतिहास साहित्य के इतिहास की परिभाषा के साथ आरम्भ होता है-"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। इससे यह संकेत मिलता है कि उनके इतिहास में काल-क्रम के आधार पर तत्कालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कवियों के व्यक्तित्त्व और कर्त्तव्यों पर विचार किया गया है। काल-विभाजन की कसौटी पर विचार करते समय शुक्ल जी ने दो तथ्यों पर बल दिया है।

1.जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखायी पड़े उसे एक अलग काल माना जा सकता है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया जा सकता है।

2.किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग से बहुत अधिक ग्रन्थ आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायेगी अर्थात् प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि हुआ करती है।

शुक्ल जी के इतिहास की कतिपय विशेषताएँ और सीमाएँ भी हैं।

2021/9/20 14:39

शुक्ल जी के इतिहास की विशेषताएँ- सम्पूर्ण रचना काल को (बिना किसी युक्ति संगत आधार के) आदि, मध्य तथा पूर्व-उत्तर आदि खण्डों में न बाँटकर एक अत्यन्त ही सुविचारित एवं सुनिर्दिष्ट ढंग से चार कालों में बाँटना और उन कालों की भावपरक और वहीं भी प्रतिनिधि भाव के आधार पर संज्ञाएँ प्रदान करना जो मुख्यतया तर्क पर आधारित हैं। कवियों के जीवन वृत्त तथा रचनाओं की सूची के आगे उनकी साहित्यिक सामग्री का भी उच्चकोटि की रस दृष्टि तथा विवेचनाशील प्रतिभा के आधार पर उद्घाटन करना तथा अपनी स्वतंत्र मान्यताओं की स्थापना उनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

विभिन्न स्रोतों द्वारा प्राप्त और भिन्न-भिन्न प्रकार की विपुल रचना-सामग्री को काल विभाजन के सहारे ऐतिहासिकता के सूत्र में सफलतापूर्वक बाँधने का प्रयास उन्होंने किया है।

आधुनिक काल की साहित्य रचना (रहस्यवादी, छायावादी काव्य) के विषय में तथा इससे भी पूर्व भक्ति, रीतिकालीन कवियों के विषय में उनकी व्यक्तिगत रुचि और मान्यताओं के कारण एकाकी हो गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के लगभग एक शताब्दी पश्चात् आचार्य हजारी प्रसाद इस क्षेत्र में अवतरित हुए। उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका क्रम और पद्धति की दृष्टि से ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या प्रदान करते हैं। जहाँ आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि "युग की परिस्थितियों" को प्रभुत्त्व प्रदान करती थी, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने परम्परा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खण्डित किया जो युगीन प्रभाव के एकांकी दृष्टिकोण पर आधारित थीं।

"हिन्दी साहित्य की भूमिका" के अनन्तर आचार्य द्विवेदी के इतिहास सम्बन्धी कुछ और रचनाएँ प्रकाशित हुई है। जिसमें "हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास" 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आदि प्रमुख है। इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की विशेषत: मध्यकालीन काव्य के स्रोतों एवं पूर्व परम्पराओं के अनुसन्धान तथा उनकी अधिक सहानुभूति पूर्ण व यथा तथ्य व्याख्या करने की दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम एवं सराहनीय है। वस्तुत: वे प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक धाराओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खण्डित किया साथ ही उनके युग रुढ़िवादी एकांगी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परम्परागत दृष्टिकोण को स्थापित करके उन्होंने हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को एक व्यापक एवं सन्तुलित इतिहास दर्शन की भूमिका तैयार की।

प्रश्न 3- हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन एवं विभिन्न कालों के नामकरण का आधार स्पष्ट कीजिए। **अथवा**

हिन्दी साहित्य के काल विभाजन की समस्या पर प्रकाश डालते हुए काल विभाजन के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए। **अथवा**

काल-विभाजन एवं नामकरण के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्ल के काल विभाजन का वर्णन कीजिए।

उत्तर- **काल विभाजन और नामकरण**

हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन एवं नामकरण एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्रत्येक विद्वानों इसे अपने-अपने ढंग से परिभाषित एवं विश्लेषित करने का प्रयास किया है। काल विभाजन एवं नामकरण की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास मिश्र बन्धुओं द्वारा रचित 'मिश्र बन्धु विनोद' में दृष्टिगत होता है 'मिश्र बन्धु विनोद' में किया गया काल विभाजन अग्रलिखित है-

(1) **प्रारम्भिक काल-**मिश्र बन्धुओं ने इसे दो भागों में बाँटा है। (अ) पूर्व प्रारम्भिक काल-700-1343 ई० तक। (ब) उत्तर आरम्भिक काल-1344-1444 ई० तक।

(2) **माध्यमिक काल-**इसके भी दो भाग हैं- (अ) पूर्व माध्यमिक काल-1345-1560 ई० तक। (ब) प्रौढ़ माध्यमिक काल-1561-1680 ई० तक।

(3) **अलंकृत काल-**इसके अन्तर्गत भी दो भाग हैं- (अ) पूर्व अलंकृत काल-1681-1790 ई० तक। (ब) उत्तर अलंकृत काल-1791-1889 तक।

(4) वर्तमान काल-मिश्र बन्धुओं के अनुसार यह काल 1925 से लेकर आधुनिक युग तक को रखा जा सकता है।

2021/9/20 14:40

रामचन्द्र शुक्ल का काल विभाजन

मिश्र बन्धुओं के बाद काल विभाजन की दृष्टि से सबसे उल्लेखनीय प्रयास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही किया है और उनका कहना है कि 'हिन्दी साहित्य' का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं-

(1) आदि काल (वीरगाथा काल, सम्वत् 1050-1375 ई०)
(2) पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल, 1375-1700 ई०)
(3) उत्तर मध्यकाल (रीति काल, 1700-1900 ई०)
(4) आधुनिक काल (गद्य काल, 1900-1984 ई०)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं का विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी काल में अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं, जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीर रस के अनेक काव्य जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग की होगी जिस ढंग की वीरगाथा काल में हुआ करती थी।

जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है। और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि विशेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी, यही नहीं कि और सब ढंगों के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायेगी, चाहे और दूसरे-दूसरे ढंग की प्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें।

परवर्ती विद्वानों का दृष्टिकोण

इस प्रकार शुक्ल जी ने विशेष प्रवृत्तिमूलक रचनाओं की प्रचुरता और लोक प्रसिद्धि का आधार लेकर ही अपने इतिहास-ग्रन्थों में काल-विभाजन किया है तथा उनके परवर्ती समीक्षकों में से जहाँ कि एक ओर बहुत से आलोचकों ने शुक्ल जी के काल-विभाजन को पूर्णतया आंशिक हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लिया है, वहाँ कतिपय समीक्षकों ने उनका विरोध भी किया है। **डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० गुलाबराय, हंसराज अग्रवाल और देवीशरण रस्तोगी** ने तो किंचितमात्र परिवर्तन के साथ शुक्ल जी के काल-विभाजन का अनुसरण किया है, पर कुछ विचारकों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र विचारधारा का परिचय देते हुए हिन्दी साहित्य का काल विभाजन किया है। इस प्रकार जहाँ कि डॉ० **रामकुमार वर्मा** 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन करते हुए सन्धिकाल, चारणकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल नामक पाँच खण्ड मानते हैं। वहीं डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ उसे अन्धकार काल, कलात्मक उत्कर्ष काल, साहित्य शास्त्रीय विकास काल और साहित्य काल नामक सर्वथा नवीन नामों से विभूषित कर चार भागों में ही विभाजित करते हैं। साथ ही डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी विकास की दृष्टि से हिन्दी के विकास की निम्नलिखित तीन श्रेणियों की ओर संकेत किया है-प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल। इधर **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने भी पर्याप्त खोज-बीन और अध्ययन अनुशीलन के उपरान्त हिन्दी साहित्य को निम्नांकित चार कालों में विभाजित किया है :

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल-दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक।
2. भक्ति-साहित्य चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक।
3. रीति-काव्य-16वीं शताब्दी के मध्यभाग से 19वीं शताब्दी के मध्य भाग तक।
4. आधुनिक काल- 19वीं शताब्दी के मध्यकाल से आज तक।

नामकरण- डॉ० वाष्णेय ने उत्तर मध्यकाल को रीति और शृंगार काल नाम दिया है अत: इससे ऐसा जान पड़ता है कि इस काल को वह रीति और शृंगार दोनों ही कहना पसन्द करते हैं तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के काल-विभाजन और नामकरण को स्वीकार करते हुए भी रीतिकाल को शृंगार काल ही माना है। इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा किये गये काल विभाजन व नामकरण के सम्बन्ध में विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल आदिकाल को लेकर ही विद्वानों ने उनके विचारों का विरोध किया है अन्यथा वे सब उनसे सहमत ही जान पड़ते हैं।

जहाँ तक रीतिकाल का प्रश्न है, इस दिशा में बहुत ही कम समीक्षकों ने शुक्ल जी का विरोध किया है। अत: पहले हम यहाँ इस सम्बन्ध में ही विचार करेंगे कि रीतिकाल नाम उपयुक्त है या नहीं?

2021/9/20 14:40

डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के शब्दों में, "रीति का तात्पर्य काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों, रस, ध्वनि, अलंकार, काव्य के गुण-दोष आदि के विवेचन से होता है। हिन्दी साहित्य में सन् 1600 से लेकर 1850 तक के समय में ऐसे ही रीतिबद्ध और रीतिमुक्त ग्रन्थों में काव्य-लक्षण, रसनिरूपण, भाव-भेद, नायक-नायिका भेद, ध्वनि, अलंकार, पिंगल काव्य के गुण-दोष आदि समस्त काव्यांगों की विषय चर्चा है।" इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के दो सौ वर्षों (सं० 1700-1900 वि०) का समय सामान्यतया रीतिकाल के नाम से जाना जाता है और **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति '**हिन्दी-साहित्य का इतिहास**' में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए उसे रीतिकाल कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है।

शुक्ल जी के इतिहास ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त तो बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में रीतिकाल नाम ही प्रचलित रहा, पर कालान्तर में उसे शृंगार काल और कला काल और अलंकृतकाल के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने तो रीतिकाल को ह्रास-युग नाम प्रदान किया, पर यह नाम सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि भाषा-शैली की दृष्टि से और रीति परम्परा स्थापित करने के विचार से इस काल की महत्ता सन्देहात्मक नहीं है। इस प्रकार अलंकृतकाल व कला, काल नाम ही सर्वसम्मत माना जाने लगा। पर नाम के सम्बन्ध में भी कोई पुष्ट आधार नहीं दिये गये, पर रीति काल को शृंगार काल मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। यों स्वयं शुक्ल जी ने ही अपने इतिहास ग्रन्थ के पृष्ठ 241 में यह मान लिया था कि रस के विचार से इस काल को शृंगारकाल कहना ही अधिक उपयुक्त है तथा 'बिहारी', 'कवित्त', व वाङ्मय विमर्श' आदि समीक्षात्मक कृतियों में उन्होंने 'रीतिकाल' नामकरण ही अनुपयुक्तता पर विचार करते हुए शृंगारकाल नाम की सार्थकता ही प्रतिपादित की है। इतना ही नहीं लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक स्वर्गीय डॉ० बृजकिशोर मिश्र के शोध-प्रबन्ध 'अवध के प्रमुख कवि' में भी शृंगार काल ही माना गया है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'शृंगारकाल' नाम अधिक उपयुक्त व सामान्य-प्रवृत्ति निरूपण करने वाला प्रतीत नहीं होता। रीतिकाव्य संस्कृत का काव्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र का बहुत कुछ समानार्थी भी कहा जाता है क्योंकि संस्कृत के काव्य की भाँति इसमें भी काव्य रचना की विधि वर्णित होती है, पर संस्कृत के काव्य-शास्त्र की परिष्कृत रचना शैली और गम्भीर विवेचना पद्धति हिन्दी के रीति ग्रन्थों में नहीं दिखायी पड़ती। यद्यपि हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने लक्षण-निरूपण में संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों को ही मूल आधार माना है फिर भी उनमें विवेचन की वह सूक्ष्मता और गहराई नहीं आ सकी, जो संस्कृत में दिखाई पड़ती है। संस्कृत के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रों में उदाहरण साधारणत: विभिन्न कवियों की कृतियों से संग्रहीत किये गये हैं किन्तु संस्कृत के परवर्ती अलंकार ग्रन्थों में इनके रचयिताओं ने स्वरचित लक्षण उदाहरण ही रखे। हिन्दी के रीति ग्रन्थों में इन्हीं परवर्ती अलंकार ग्रंथों का अनुकरण दिखाई पड़ता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रों में जहाँ शास्त्रीय विवेचन भर दिया गया वहीं हिन्दी के रीति ग्रंथों में उदाहरणों के उपस्थान पर इससे पृथक विवेचन है।इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का 'रीति' शब्द न तो संस्कृत रीति सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है और न संस्कृत के अलंकार शास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का समानार्थी है। हिन्दी में यह अपने विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया काल विभाजन एवं नामकरण मील के पत्थर की भूमिका में है। घूम-फिर कर प्राय: सभी विद्वान उन्हीं के मत से सहमत दिखते हैं।

खण्ड-'ख'

2 आदिकाल (1400 ई० तक)

प्रश्न 4- आदिकालीन धार्मिक साहित्य (काव्य) का परिचय देते हुए इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए। अथवा
सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य एवं जैन साहित्य का संक्षिप्त विवेचन करते हुए इसकी मूलभूत प्रवृत्तियों (विशेषताओं) का निरूपण कीजिए। अथवा
सिद्ध साहित्य,नाथ साहित्य एवं जैन साहित्य पर एक विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए। अथवा
सिद्ध साहित्य,नाथ साहित्य एवं जैन साहित्य की विवेचना करते हुए तीनों साहित्य (सिद्ध,नाथ एवं जैन साहित्य) की प्रवृत्तियों को उद्घाटित कीजिए।

उत्तर-आदिकालीन धार्मिक साहित्य की तीन धाराएँ मिलती हैं। सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य तथा जैन साहित्य तीनों साहित्यों का वर्णन अग्रलिखित है :-

2021/9/20 14:40

1. सिद्ध साहित्य

सिद्ध कवियों का प्रतिपाद्य विषय था-वज्रयान धर्म। वज्रयान धर्म में तन्त्र-मन्त्र तथा हठयोग की साधना प्रधान थी तथा उसमें विकृत रूप से मद्य और मैथुन का भी सन्निवेश था। किन्तु सिद्धों के विशुद्ध वज्रयान धर्म में सदाचार पर अधिक बल दिया जाता था। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करना उनके सिद्धांतों के विरुद्ध था क्योंकि स्वाभाविक प्रवृत्तियों के दमन से मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न होने का भय था। इसीलिए साधना के बल पर सिद्ध सन्त उन प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने में विश्वास करते थे। उनका जीवन नियम और संयम से सम्पृक्त था। गुरु के उपदेशों को सक्रिय रूप देकर कर्म करने से उन्हें अपने अन्त:करण में ही तीर्थ का अनुभव होता था। उनके मत में योग और भोग दोनों मुक्ति के साधन थे। तन्त्र-मन्त्र से वे सिद्धियाँ प्राप्त करते थे और सिद्धि प्राप्त करने पर वे आत्यन्तिक सुख की उपलब्धि करते थे। सिद्धों की इस अलौकिक सुखानुभूति ने ही सन्त साहित्य के रहस्यवाद को जन्म दिया।

सिद्ध सन्तों के दो रूप मिलते हैं- (1) तन्त्र विद्या के प्रचारक के रूप में, वामाचार के रूप में। दोनों एक शाखा के अन्तर्गत होते हुए भी विभिन्न विचारों का प्रतिपादन करते हैं। वामाचारी सिद्धों ने पंचमकार-मांस, मदिरा, मुद्रा, मत्स्य और मैथुन का सेवन करना जीवन के लिए आवश्यक बताया है। ये भोग और योग साहित्य दोनों को मोक्ष का साधन मानते थे। इसीलिए उनका भोग सम्बन्धी साहित्य अश्लीलता से कूट-कूट कर भरा है। सदाचार और धर्म को महत्त्व देने वाले सिद्धों का साहित्य शिष्ट है तथा उनमें दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है। उनकी रचनाओं में रहस्यवाद का वह बीज मिलता है जो आगे चलकर कबीरदास, मलूकदास आदि सन्त कवियों की वाणी से प्रस्फुटित हुआ। सिद्ध साहित्य का चरम उद्देश्य है-बोधिचित्त को प्राप्त करना। यह बोधिचित्त करुणा और शून्य के मेल से प्राप्त होता है। इसी को महानिर्वाण कहा गया है। यह समस्त बाह्य जगत् असत्य है। केवल बोधिचित्त का अस्तित्त्व ही सत्य है। इनके मतानुसार अविद्या माया के कारण जीव अज्ञान के अन्धकार में पड़ा हुआ है। अत: उसे संसार के मिथ्यत्व और बोधित्त्व की सत्यता का ज्ञान नहीं होने पाता। सिद्धों द्वारा बताये गये नियम, संयम और योग के द्वारा चित्त शुद्ध होने से जीव-अविद्या माया से मुक्त हो जाता है और तब उसकी अहंकारमूलक भावना स्पष्ट हो जाती है। इस परिस्थिति में उसे ज्ञान का प्रकाश मिलता है तत्पश्चात् सहज आनन्द की प्राप्ति होती है। सिद्धों ने जीव की इस अवस्था को बोधिचित्त की प्राप्ति अथवा महानिर्वाण माना है।

सिद्ध साहित्य में वेद, उपनिषद्, देवमूर्ति और यज्ञ आदि का प्रत्याख्यान किया गया है। सिद्धों के मतानुसार वेद आदि धर्म ग्रन्थ केवल मार्ग का निर्देश करते हैं लेकिन वे उस सहज आनन्द की उपलब्धि कराने में असमर्थ हैं क्योंकि सहजानन्द लोकातीत है। वह परानुभूति का विषय न बनकर स्वानुभूति का विषय है। इसीलिए सिद्ध कवियों ने अन्तर्मुखी योग की ओर तत्कालीन जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया।

सिद्ध साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

(1) सिद्ध साहित्य में प्राय: दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं-जिन्हें 'दोहा कोष' और 'चर्यागीत' कहा जाता है। 'दोहा कोष' छोटे छन्दों में लिखे हुए हैं और उनमें उनके दार्शनिक सिद्धान्त रखे गये हैं। 'चर्यागीत' पद हैं, जो विशेष प्रकार की पूजा के अवसर पर गाये जाने के लिए लिखे गये हैं। (2) सिद्धों ने वेद तथा ब्राह्मण का विरोध किया। (3) आचार तथा नैतिकता पर अधिक बल नहीं दिया गया। बाह्याचार जप-तप, मूर्ति पूजा आदि का कड़ा विरोध किया गया। (4) मन को निश्छल बनाने पर सबसे अधिक बल दिया गया है जिसके लिए मुद्रा साधना का विधान किया गया है। (5) सिद्धों की रहस्यात्मक भाषा को 'संध्या-भाषा' नाम दिया गया है, इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों के दो मत हैं-जिस प्रकार संध्या के समय प्रकाश अन्धकार का मेल होता है उसी प्रकार सिद्धों की वाणी के दो अर्थ होते हैं, (i) लौकिक (ii) पारलौकिक। इसीलिए उसे संध्या भाषा कहते हैं। (6) दूसरे प्रकार के विद्वानों का मत है कि यह भाषा किसी विशेष प्रयोजन से आविष्कृत की गई है। संस्कृत शब्द 'सन्धाय' से इसकी व्युत्पत्ति मानी जानी चाहिए। यही शैली आगे चलकर सन्तों में उलटवासी के रूप में प्रचलित हुई। (7) सिद्धों के समय में एक विशेष प्रकार की साधनापरक शब्दावली का निर्माण हुआ। जैसे-खसम = चित्त = आकाश = सम = सम्मन निर्मत, सहज शून्य आदि। (8) भाषा की दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं में अधिक विभिन्नता नहीं है। सब अपभ्रंश प्रधान शब्दावली का प्रयोग करते थे जिन्हें भाषा विज्ञान की दृष्टि से मागधी या अर्धमागधी अपभ्रंश कहा जा सकता है।

2021/9/20 14:40

2. नाथ साहित्य

नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत वैसे तो 12 पन्थों का प्रचलन हुआ किन्तु इन दिनों नाथ सम्प्रदाय का जो रूप जीवित है वह मुख्यत: गोरखनाथी योगियों का सम्प्रदाय है जिन्हें कनफटा योगी कहते हैं। ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आदिनाथ माने जाते हैं। जो साक्षात् शिव जी हैं। लेकिन मत्स्येन्द्रनाथ तथा उनके शिष्य गोरखनाथ और जालन्धरनाथ तथा उनके शिष्य कण्हपा ये चार सिद्धानाथ पंथ के प्राचीनतम प्रवर्तक माने जाते हैं। बाद के नाथ योगियों में चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ, भरथरी गोपीचन्द्र, गरीबनाथ और पृथ्वीनाथ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ के नाम वज्रयानी सूची में भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा चलाये हुए पंथ में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप में साधना करते थे। वे कजलीवन की योगिनी स्त्रियों के मायाजाल में फँस गये थे। उनके शिष्य गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। यह कहानी सारे भारत में अनेक रूपों में प्रचलित है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनकी पहले की साधना वज्रयानी सिद्धों से प्रभावित थी। उसमें स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था जो ब्रह्मचर्य के अनुकूल नहीं था। गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। इसका तात्पर्य है कि उन्होंने अपने गुरु द्वारा प्रवर्तित मत में सदाचार को प्रधानता दी। गोरखनाथ पर शैव विचारधारा और पतंजलि योगदर्शन का अधिक प्रभाव था। इसी विचारधारा के मिश्रण से बौद्ध सिद्धों की प्रतिक्रिया में उन्होंने नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का समय 9वीं शताब्दी है। मत्स्येन्द्रनाथ के सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। हिन्दी में जो पद्य मिलते हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

गोरखनाथ और नाथपन्थ

गोरखनाथ अपने युग के सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न महात्मा थे। समूचे भारत, अफगानिस्तान, ईरान तक उनके नाम से सम्बद्ध अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उन सब देशों पर उनका किसी न किसी समय प्रभाव था। कब हुये इसमें मतभेद है। बंगालियों का विश्वास है कि ये बंगाली थे, पंजाबी लोग पंजाबी मानते हैं। गोरखपुर वाले गोरखपुरी मानते हैं। टिल्ला का उल्लेख कई कहानियों में मिलने से ऐसा लगता है कि वे पंजाब के मूल निवासी थे। बाद में वे सारे भारत में भ्रमण करते रहे।

गोरखनाथ का हठयोग मार्ग

गोरखनाथ का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने योगमार्ग को एक सुव्यवस्थित रूप दिया, आत्मानुभूति एवं शैव परम्परा के सामंजस्य से शरीर में स्थित चक्रों की संख्या निश्चित की, वज्रयानी साधना की विकृतियों को साधना क्षेत्र से निकाला और उनकी पारिभाषिक शब्दावली को ग्रहण कर उसे पारमार्थिक रूप दिया। धर्म को सदाचारप्रधान बनाया साथ ही रूढ़िविरोधी स्वर को ज्यों का त्यों रखा।

संस्कृत हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की। 40 हिन्दी ग्रन्थों का संकलन डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखवानी नामक' पुस्तक में किया है। इनमें से अधिकांश तो अप्रामाणिक हैं। 'सबदी' और 'पद' अधिकांश प्रामाणिक है। ये रचनाएँ प्राय: उपदेशात्मक हैं, मन शरीर की शुद्धि पर बल दिया गया है, ब्रह्मचर्यव्रत पालन का उपदेश है, मांस-मदिरा सेवन का निषेध है। आचरण तथा वाणी पर नियन्त्रण रखने की शिक्षा है और योग साधना द्वारा परमार्थ प्राप्ति का उपदेश है।

गोरखनाथ ने हठयोगिनी साधना का प्रचलन किया। उनके अधिकांश ग्रन्थ हठयोग पर ही लिखे गये। उनका विश्वास था कि प्रत्येक शरीरधारी का छोटा-मोटा ब्रह्मांड है। अत: शरीर शुद्धि से मानव सब कुछ पा सकता है। शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ किन्तु मेरुदण्ड के भीतर स्थित सुषुम्ना साम्भवी शक्ति है। नेती धोती आदि षट्कर्मों के द्वारा योगी नाड़ियों को शुद्ध करता है और प्राणवायु को सुषुम्ना में ले जाता है। इस क्रिया से कुण्डलिनी शक्ति शुद्ध होती है। शुद्ध कुण्डलिनी 6 चक्रों का भेदन करती हुई अन्तिम चक्र में स्थित शिव में मिलती है। क्योंकि प्राण वायु निरोध से ही योगी इस क्रिया में सिद्ध होता है अत: इसे हठयोग कहा जाता है।

नाथ साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

गोरखपंथी साहित्य में यद्यपि साधना सम्बन्धी नीरस बातों की ही चर्चा अधिक है किन्तु उसमें एक प्रकार का ऐसा मानवीय रस भी है जो इन उपदेशों को कभी-कभी सरस बना देता है। गोरखनाथ के दृष्टान्त और उपागम इतने आकर्षक हुए हैं कि बाद में अनेक संत कवियों ने उन्हें ज्यों का त्यों अपना लिया है। वे सभी दृष्टान्त सहज लोकजीवन से लिए गये हैं। इसीलिए उनकी अनेक वाणियाँ लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हो गईं।

2021/9/20 14:40

1.यूह मन शक्ति यह मन सीव। 2.अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा आदि उनके अनेक पदों को साँप, बिच्छू का मन्त्र समझ लिया गया है। अनेक पद बाधा दूर करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार गोरखनाथ का व्यक्तित्त्व नाना रूपों में लोकमानस पर छाया हुआ है।

भरथरी तथा गोपीचन्द के त्याग की कहानियाँ भी लोकगाथाओं में अनेक प्रकार से मिलती हैं। सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों में इनके संकेत मिलते हैं।

सन्त साहित्य पर प्रभाव- नाथपंथ अपना अमिट प्रभाव छोड़ गया। कबीर, दादू आदि के साहित्य पर नाथपंथी मान्यताओं एवं शैली का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। बंगला-मराठी साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। कबीर आदि के अनेक पदों पर इनके पदों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

1.सन्त साहित्य का गोष्ठी साहित्य इन्हीं की देन है। कबीर-रामानन्द गोष्ठी, कबीर-गणेश गोष्ठी आदि।

2.राजस्थान के निरजंनी पंथ पर इनका प्रभाव अधिक है। हरदास, अमरदास आदि निरंजनी संतों की वाणियों पर नाथ गोपियों का प्रभाव है।

3.सूफियों के प्रेमाख्यान साहित्य पर (i) जायसी के पद्मावत के अनेक रूपकों पर इनका प्रभाव है। (ii) सूफियों ने अधिकांश नायकों को जोगी रूप में चित्रित किया है। (iii) कथानक भी इस प्रकार का गढ़ा है जिसमें हठयोग के सिद्धान्तों की काव्यात्मक विवेचना का पूर्ण अवसर मिल सके। (iv) जायसी ने पद पर योगमूलक साधनों का संकेत किया है।

4.सगुण साहित्य में भी उद्धव-गोपी संवाद के बहाने अच्छा साहित्य योग खंडन के उद्देश्य से लिखा गया है।

5.सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव कवियों की रचनाओं में भी नाथपंथी विचारधारा का प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य पर नाथ साहित्य का पर्याप्त प्रभाव मिलता है।

3. जैन साहित्य

आदिकाल की उपलब्ध सामग्री में सबसे अधिक संख्या जैन ग्रन्थों की है। जैन साहित्य के अन्तर्गत पुराण, साहित्य चरित काव्य, कथा-काव्य एवं रहस्यवादी काव्य प्रमुख रूप से लिखे गये इनके अतिरिक्त व्याकरण ग्रन्थ और श्रृंगार शौर्य नीति और अन्योक्ति सम्बन्धी फुटकर पदों की भी रचना हुई।

जैन कवियों ने आचार रास फागु चरित आदि विभिन्न शैलियों में साहित्य की रचना की है किन्तु जैन साहित्य का सबसे लोक प्रियरूप 'रास' सबसे अलग है। रास एक तरह का गेय रूपक है। इस रास में जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित वैष्णव अवतारों की कथाएँ एवं जैन आदर्शों का प्रतिपादन होता था। एक तरह से सभी धर्मों में पायी जाने वाली लोक कला के माध्यम से धर्म प्रचार का एक रूप रास भी है।

जैन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

(1) **विषय की विविधता-** जैन साहित्य धार्मिक साहित्य होते हुए भी सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक विषयों के साथ ही लोक आख्यान की अनेक कथाओं को आत्मसात् किये हुए है। रामायण एवं महाभारत से सम्बन्धित कथाओं को भी जैन कवियों ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। जहाँ तक सामाजिक विषयों का सम्बन्ध है, जैन रचनाओं में जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों का रोचक चित्रण मिलता है।

(2) **उपदेशमूलकता-** जैन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति उपदेशात्मक है। इसके मूल में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था और उसका प्रचार है। इसके लिए जैन कवियों ने दैनिक जीवन की प्रभावोत्पादक घटनाएँ आध्यात्मिक पोषक तत्त्व, चरित, नायकादर्श, श्रावकों, साधु-सन्तों तथा ऐतिहासिक पात्रों के जीवन का वर्णन किया है जिसके कारण काव्य में शुष्कता नहीं है।

(3) **प्रामाणिकता-** लगभग 11वीं से 15वीं शताब्दी तक बोलियों या प्रान्तीय भाषा में लिखा गया जैन साहित्य अनेक हस्तलिखित प्रतियों में सुरक्षित है। कुछ प्रतियाँ तो मूल लेखकों की भी कही जाती हैं। साथ ही 12वीं से लेकर 15वीं शताब्दी के प्रत्येक चरण की रचनाएँ पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। इसीलिए अन्य साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य अधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है।

(4) **शान्त या निर्वेद रस की प्रमुखता-** जैन साहित्य में करुण, वीर, श्रृंगार आदि सभी रसों की सफल निष्पत्ति हुई है। नेमिचन्द चउपई में करुण 'भरतेश्वर बाहुबली' में वीर तथा 'स्थूलिभद्र फागु' में श्रृंगार रस की प्रभावपूर्ण निष्पत्ति पायी जाती है। इन सभी कृतियों के अन्त में शान्त या निर्वेद सभी रसों पर प्रभावी हो जाता है। इसीलिए यह कहना असंगत नहीं होगा कि जैन-साहित्य में रस राज शान्त अथवा मूलभाव निर्वेद है।

(5) **काव्य रूपों में विविधता-** जैन साहित्य काव्य रूपों के क्षेत्र में भी सम्पन्न हैं। इसमें रास, फागु, छप्पय चतुष्पादिका, प्रबन्ध, गाथा, चंचरी, गुवबली, गीत, स्तुति, महात्म्य, उत्साह आदि

2021/9/20 14:40

प्रकार पाये जाते हैं। अपभ्रंश के अनेक काव्य रूपों का प्रयोग जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है। अधिकांश काव्य रूप ऐसे भी हैं जिनके उद्भव का श्रेय जैन साहित्य को जाता है।

(6) **लोक भाषा की प्रतिष्ठा-** जैन साधु गाँव-गाँव और नगर-नगर घूमकर धर्म प्रचार करते थे, इसीलिए उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोक भाषा का प्रयोग करके उसे प्रतिष्ठा प्रदान की है।

(7) **गद्य का प्राचीनतम रूप-** अनेक पद्य-रचनाओं के साथ जैन साहित्य में गद्य रचनाएँ भी विद्यमान हैं। अराधना अतिचार बाल-शिक्षा षड़ावश्यक, बालावबोधि कल्याण मन्दिर बाला, भक्तामर स्तोत्र बाला आदि अनेक रचनाएँ 14वीं शताब्दी की ज्ञात-अज्ञात जैन लेखकों की उपलब्ध हैं। गद्य के साथ-साथ गद्य काव्य को जन्म देने का श्रेय भी आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य को ही है। 14वीं शताब्दी की श्री माणिक्य सुन्दर सूर्यकृत 'पृथ्वीचन्द' को वागविलास गद्य काव्य की परम्परा का उन्मेष करने वाली प्राचीनतम एवं शीर्ष कृति माना जा सकता है।

जैन साहित्य के जो ग्रन्थ आज तक प्राप्त हुए हैं, उनमें से कुछ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

श्रावकाचार- जैन ग्रन्थों में देवसेन जैन आचार्य का श्रावकाचार सर्वप्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। 250 दोहों के इस ग्रन्थ में कवि ने श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही गृहस्थ के कर्त्तव्यों का भी प्रतिपादन किया गया है।

भरतेश्वर बाहुबली रास- यह जैन साहित्य की रास परम्परा की प्रथम रचना मानी जाती है। इसकी रचना शीलभद्र सूरि ने की थी जो अपने समय के अच्छे आचार्य और कवि माने जाते हैं। इस ग्रन्थ का रचना काल 1184 ई० स्वीकार किया गया है। यह कथात्मक खण्ड प्रबन्ध है जिसमें जम्बू द्वीप के अयोध्या नगर के राजा ऋषभ जिनेश्वर के दो पुत्र भरतेश्वर और बाहुबली की कथा के माध्यम से अहिंसा और निर्वेद का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। इसका कथा नायक भरतेश्वर एक दिग्विजयी वीर है। इस ग्रन्थ में प्रमुखतः वीर और शान्त रस की निष्पत्ति होती है। इसके संवादों में नाटकीय योजना और पर्याप्त गेयता भी है। 205 छन्दों का यह सुन्दर खण्ड प्रबन्ध आगे की रास रचनाओं के अनेक रूपों में प्रभावित करता हुआ दिखता है।

चन्दन बाला रास- जालौर में सन् 1200 के लगभग आसगु कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। 35 छन्द के इस लघु खण्ड काव्य में चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला की कथा प्रस्तुत की गयी है। अत्याचारों से पीड़ित चन्दनबाला महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष की प्राप्ति करती है।

स्थूलिभद्र रास- यह रचना कवि जिन धर्म सूरि की 1209 ई० की मानी जाती है। इसमें कोशा वेश्या के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र के जैन धर्म द्वारा किये गये उद्धार की कथा वर्णित है। इसके माध्यम से महावीर और जैन धर्म की महत्ता स्पष्ट की गई है।

श्री स्थूलिभद्र फाग- जिन धर्मसूरि की यह रचना शृंगारिक खण्ड काव्य है। इसका रचनाकाल संदिग्ध है। इसमें 'कोशा' वेश्या के माध्यम से शृंगार रस की निष्पत्ति होती है लेकिन स्थूलभद्र की चारित्रिक दृढ़ता के समक्ष उसकी समस्त शृंगारिक चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। इस प्रकार अंत में निर्वेद की स्थापना होती है। इसकी भाषा हिन्दी है लेकिन उस पर अपभ्रंश का प्रभाव भी पर्याप्त रूप से देखा जा सकता है।

नेमिचन्द्र चउपई- कवि विनयचन्द्र सूरि की यह रचना जैन साहित्य के बारहमासा काव्य की अनूठी कृति मानी जा सकती है। इसके रचना काल के सम्बन्ध में मतभेद है। **डॉ० नामवर सिंह** इसे अपभ्रंश की रचना मानकर इसका रचना काल 1200 ई० मानते हैं। किन्तु भाषा के रूप तथा अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर यह आदिकाल के हिन्दी साहित्य की राजस्थानी कृति मानी जा सकती है। इस काव्य में नेमिचन्द्र प्रिया राजुल की विरह व्यथा का वर्णन है। कवि ने हर मास की प्रकृतिजन्य संवेदना से ज्वलित राजुल की विरह व्यथा का सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्त में राजुल कैवल्य ज्ञान प्राप्त नेमिचन्द के पास गिरनार आकर स्वयं भी दीक्षित हो जाती है।

उपर्युक्त प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त जैन ग्रंथों की एक लम्बी शृंखला है। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त जैन साहित्य में व्याख्या, छन्द, अलंकार, वैधक, गणित, ज्योतिष, नीति आदि के संदर्भ में भी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

हिन्दी साहित्य के विकास में जैन रचनाकारों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश साहित्य एक अत्यन्त समृद्ध और व्यापक साहित्य है जिसमें महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, गीतिकाव्यों लौकिक प्रेम काव्यों, धार्मिक काव्यों, रूपक साहित्य, कथा साहित्य, स्फुट साहित्य, गद्य साहित्य आदि नाना प्रकार की साहित्यिक विधाओं की रचनाएँ हुई हैं।

2021/9/20 14:40

प्रश्न 5- आदिकालीन रासो काव्य परम्परा का संक्षिप्त परिचय देते हुए रासो काव्य की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

रासो काव्य परम्परा का सामान्य परिचय देते हुए पृथ्वीराज रासो की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

अथवा

कथानक रूढ़ि का अर्थ स्पष्ट करते हुए रासो काव्य में प्रयुक्त कतिपय महत्त्वपूर्ण कथानक रूढ़ियों का वर्णन करते हुए इसके काव्य के अन्तर्गत 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का साक्ष्य प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

'रासो' शब्द से आप क्या समझते हैं? आदिकालीन प्रमुख 'रासो' ग्रन्थों का परिचय दीजिए।

अथवा

आदि कालीन रासो साहित्य की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर- रासो काव्य परम्परा

रासो- रासो शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विचारकों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं और फ्रांसीसी विद्वान् गार्सादत्तासी ने इस शब्द की उत्पत्ति राजसूय शब्द से मानी है। उनका कहना है कि चारण काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख है और इसलिये इन ग्रंथों का नाम रासो पड़ा होगा परंतु उनका यह मत तर्कसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि इन सभी चरित्र काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है। साथ ही अपभ्रंश से भी कई ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जिन्हें 'रासक' कहा जाता है और जिनमें की प्रेम का वर्णन ही है। 'संदेशरासक' इसी प्रकार की रचना है अत: राजसूय शब्द से 'रास' की उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

कतिपय विचारक रासो शब्द का सम्बन्ध रहस्य से मानते हैं। परन्तु यह मत उचित नहीं है क्योंकि रासो ग्रंथों में किसी भी प्रकार का गूढ़ दार्शनिक रहस्य नहीं है। इसी प्रकार रासो शब्द का संबंध रास या रसिक से माना जाता है पर इन शब्दों का अर्थ ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विकास, गर्जन व नृत्य है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन शब्दों से रासो की व्युत्पत्ति सिद्ध करना अवैज्ञानिक ही जान पड़ता है। कुछ समीक्षकों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रसिया शब्द से माना है पर रसिया शब्द का अर्थ भद्दा शृंगार मानने से तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि रासो शब्द का रसिया शब्द से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि रासो ग्रंथों में न तो भद्दा शृंगार ही वर्णित है और न उन्हें शृंगारमूलक रचना ही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार इस शब्द का सम्बन्ध राजस्थानी व ब्रजभाषा के 'रासो' शब्द से जोड़ने का प्रयास भी किया गया है परंतु यह मत भी निराधार ही है क्योंकि राजस्थानी ब्रजभाषा में रासो शब्द का अर्थ लड़ाई-झगड़ा है और इस रूप में 'रासो' शब्द की कोई सार्थकता इन चरित-काव्यों के साथ दृष्टिगोचर नहीं होती। यह हम स्वीकार करते हैं कि कुछ रासो ग्रंथों में युद्धों का वर्णन भी है। परन्तु कई रासो ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें शुद्धरूप से प्रेम का वर्णन ही है और युद्ध अभाव होते हुए भी उन्हें रासो कहा जाता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रासो शब्द का निर्माण रामायण शब्द से माना है और नरोत्तम स्वामी रासो शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानते हैं तथा आचार्य चंद्रबली पाण्डेय ने रासो शब्द का संबंध संस्कृत साहित्य के रसिक शब्द से मानते हुये कहा है कि संस्कृत में रासक की गणना रूपक या उपरूपक में हुई है। इसी प्रकार **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने भी रासो शब्द रासक शब्द से सम्बन्धित माना है, पर वह रासक को केवल इस प्रकार का छंद अपितु काव्य भेद भी मानते हैं। 'हिन्दी-साहित्य द्वितीय-खण्ड' में संग्रहीत अपने एक विस्तृत निबंध में डॉ० माता **प्रसाद गुप्त** ने रासो शब्द पर विचार करते हुए रासो शब्द का सम्बन्ध रासक से माना है और उनका यही कहना है कि 'रास' तथा 'रासो' में कोई भेद नहीं है; दोनों नाम एक ही अर्थ के और कभी-कभी साथ-साथ एक ही रचना में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार डॉ० उदय नारायण तिवारी ने भी रासो शब्द की उत्पत्ति रासक शब्द से माना है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो रासो शब्द का सम्बन्ध 'रासक' से मानना उचित ही जान पड़ता है और **प्रो० शिवकुमार शर्मा** के शब्दों में 'रासक' काव्य मूलत: रासक शब्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में 9 मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। ऐसे अनेक छंदों के गाने की परिपाटी कदाचित् लोक में भी रही होगी। एक रसता के निवारणार्थ बीच-बीच में दूसरे छंद जोड़ने अथवा गाने की कथा चल निकली। 'संदेशरासक' इसका उदाहरण है। रास-काव्य मूलरूप में रासक छंद प्रधान काव्य रहे होंगे। आगे चलकर रास-काव्य का एक रूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छंद का

2021/9/20 14:40

प्रयोग किया जा सकता था। भाव की दृष्टि से रास-काव्य है, जिसमें रासकेतर छंदों का प्रयोग हुआ है फिर भी प्रेम प्रधान है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावों के अतिरिक्त अन्य विचारों के वाहन का साधन बना। प्रेम भाव के साथ इसमें वीरों की गाथाओं का सम्मिश्रण हुआ। जिस प्रकार अंग्रेजी का सॉनेट मूलत: प्रेम भावों का काव्य था किन्तु आगे चलकर उसे अन्य भावों का भी वाहक बना लिया गया, यही दशा अपभ्रंश हिन्दी के 'रास-काव्य' की समझनी चाहिये। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई काव्य हैं जैसे बाहूबली रास, समर रास आदि और हिन्दी में इसी रास काव्य का प्रतिनिधि है- पृथ्वीराज-रासो।

रासो काव्यधारा पर विचार करते हुये डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने गीत नृत्यपरक रासो परम्परा और छंद वैविध्य-परक-रासो-परम्परा नामक दो प्रकार के रासो ग्रन्थ माने हैं और गीत नृत्य परक रासो-परम्परा के अंतर्गत निम्नलिखित कृतियों की गणना है- (1) उपदेश रसायन-रचयिता-श्री जिनदत्त सूरि, रचनाकाल संख्या 1200 के लगभग, (2) भरतेश्वर बाहुबलि रास-रचयिता- श्री शालीभद्र सूरि रचना तिथि सं० 1241 वि०, (3) बुद्धिराम-रचयिता-शालिभद्र सूरि, रचनाकाल सं० 1241, (4) जीवदया रास-रचयिता-आसगु, रचना-तिथि सं० 1257 वि०, (5) चन्दनवाला रास-रचयिता-आगसु, रचनाकाल सं० 1257 वि०, (6) जंबुस्वामी रासो-रचयिता-धर्मसूरि; रचना काल सं० 1266 वि०, (7) रेवतगिरि रासु-रचयिता विजयसेन सूरि; रचनाकाल सं० 1288 वि० के लगभग, (8) गयसुकुमाल रास-रचयिता-देल्हणि, रचनाकाल सं० 1300 वि०, (9) समरा रासु-रचयिता-अंबदेव सूरि, रचनाकाल सं० 1371 वि०, (10) बीसलदेव रास-लेखक नरपति नाल्ह आदि।

इसी प्रकार छंद-वैविध्यपरक रासो परंपरा के अंतर्गत उन्होंने निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है- (1) मुन्जराज-लेखक आचार्य हेमचंद्र (2) संदेश रासक-रचयिता-अब्दुलरहमान, रचना तिथि ज्ञात नहीं है (3) पृथ्वीराज रासो, रचयिता-चन्दबरदाई (4) खुमान रासो (5) राउ जैतसी री रासो (6) विजयपाल रासो-रचयिता-नल्लसिंह भाट (7) हम्मीर रासो- जोधराज (8) खुमाण रासो-दलपति विजय।

उपर्युक्त कृतियों में से अधिकांश तो आदिकाल की सीमा के अंतर्गत नहीं आतीं और उनका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् का ही है परंतु 'पृथ्वीराज रासो, आदि जो कुछ कृतियाँ आदिकाल में रचित की जाती हैं उनकी प्रामाणिकता पर भी संदेह किया जाता है और विचारकों का यही कहना है कि आजकल वे जिस रूप में प्राप्त हैं मूलत: उसी रूप में उनकी रचना न हुई होगी।

रासो काव्य की विशेषताएँ

'रास तथा रासो' नामों में कोई भी भेद नहीं है, दोनों नाम एक ही अर्थ में और कभी-कभी साथ-साथ एक ही रचना में प्रयुक्त हुए हैं। यह धारणा निराधार है कि 'रास' कोमल भावनाओं का परिचायक रहा है और 'रासो' युद्धादि सम्बन्धी कठोर भावों का। यदि देखा जाय तो और भी अनेक प्रकार के विषय 'रासो' काव्यों में बने हैं।

रासो के अंतर्गत प्रबंध की दो विभिन्न परंपराएँ आती हैं- एक तो गीत-नृत्यपरक हैं और दूसरी छंद वैविध्यपरक। पहली का उद्भव कदाचित् नाट्यरासकों से हुआ है और दूसरों का रासक या रासाबंध से। दोनों परम्पराओं को मिलाया नहीं जा सकता है।

गीत-नृत्य-परक परंपरा की रचनाएँ आकार में प्राय: छोटी हैं, क्योंकि उन्हें याद रखना पड़ता था, छंद-वैविध्य-परम्परा में रचनाएँ छोटी-बड़ी सभी आकारों की हैं।

गीत-नृत्य-परक परंपरा का प्रचार जैन धर्मावलंबियों में अधिक रहा है। उनके रचे हुए प्राय: समस्त 'रासो' इसी परंपरा के हैं। गीत नृत्यपरक रासो रचनाएँ प्राय: पश्चिमी राजस्थान और गुजरात में लिखी गई थीं जबकि छंद वैविध्यपरक रासकों की रचना सम्पूर्ण हिन्दी में हुई है।

रासो काव्य परम्परा में पृथ्वीराज रासो का स्थान- आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- चंद हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और उनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य।" उनके अनुसार चन्द का जन्म सन् 1168 ई० में हुआ था और दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान के मंत्री और राजकवि थे तथा रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीराज चौहान और चन्द का जन्म एक ही दिन हुआ था और और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। चंद के कई पुत्र कहे जाते हैं जिनमें सबसे छोटा पुत्र जल्हण था। जब मुहम्मद गौरी पृथ्वीराज को बंदी बनाकर अपने देश ले जा रहा था तब चंद भी साथ गये थे और जाते समय पृथ्वीराज रासो महाकाव्य को जल्हण को सौंप गये थे जिसने बाद में उसे पूरा किया। इसके लिये उक्ति है- "पुस्तक जल्हण हत्थ दै; चलि गज्जन नृप काल।"

2021/9/20 14:41

पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण प्राप्त होते हैं प्रथम उदयपुर के संग्रहालय में है। इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) तथा 13,306 छंद हैं। दूसरा अबोहर और बीकानेर में 17वीं सदी की लिखी प्रतियाँ मिलती हैं जिसमें 7000 छंद हैं। तीसरी और चौथी प्रतियाँ भी बीकानेर सुरक्षित हैं जिनमें क्रमशः 3500 और 1300 छंद हैं।

पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता तथा प्रामाणिकता

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के वीर गाथा काव्यों में महाकवि चन्द वरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, परन्तु इसकी अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं।

रासो को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वान्

पाश्चात्य विद्वान् डॉ० ग्रियर्सन एवं डॉ० बूलर तथा भारतीय विद्वान् गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामल दास, मुरारी दीन तथा मोतीलाल मेनारिया इत्यादि का कथन है कि 'पृथ्वीराज रासो' अप्रामाणिक काव्य है, क्योंकि इसमें वर्णित घटनाएँ, समय तथा कुछ पात्रों के नाम इतिहास सम्मत नहीं हैं। रासो में राजपुत चौहानों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से अंकित है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों, इतिहासों तथा शिलालेखों में वे सूर्यवंशी हैं। रासो में पृथ्वीराज की माता का नाम कमला अंकित है, परन्तु इतिहास में कर्पूर देवी। रासो में राजा जयचन्द का राजसूय यज्ञ, संयोगिता स्वयंवर और पृथ्वीराज संयोगिता विवाह तथा अन्त में उनके शब्द वेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन का मारा जाना अंकित है, जो केवल कपोल कल्पित हैं, क्योंकि इन घटनाओं का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार रासो की अन्य घटनाएँ भी इतिहास सम्मत नहीं हैं। भाषा की अनेकरूपता भी रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करती है। इस प्रकार रासो को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वान् अपने मत की पुष्टि के लिये काश्मीरी संस्कृत कवि जयानक द्वारा लिखित 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य के समय तथा घटनाओं को इतिहास सम्मत होने से प्रामाणिक मानते हुए रासो को कल्पित एवं अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं और कवि चन्द के अस्तित्त्व में सन्देह करते हैं, क्योंकि कवि जयानक ने अपने काव्य में पृथ्वीराज के दरबारी कवि का नाम पृथ्वी भट्ट लिखा है, चन्द भट्ट नहीं।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान्

भारतीय विद्वान् मोहन लाल विष्णु लाल पाण्ड्या, श्याम सुन्दर दास, मथुरा प्रसाद दीक्षित, मिश्र बन्धु, हर प्रसाद शास्त्री, डॉ० दशरथ शर्मा, सुनीति कुमार चटर्जी, मुनि जिन विजय तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इत्यादि का कथन है कि चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' प्रामाणिक काव्य है। इसकी घटनाओं, समय तथा पात्रों के नाम में ऐतिहासिक अन्तर का कारण यह है कि रासो की रचना आनन्द नामक सम्वत् में हुई है, जिसमें वर्तमान विक्रम सम्वत् से 9 91 वर्ष का अन्तर पड़ता है। अतः आनन्द सम्वत् में रासो की रचना स्वीकार कर लेने से रासो की औचित्य और प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। इसकी घटनाओं तथा पात्रों की विषमता के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि 'पृथ्वीराज रासो' इतिहास नहीं, बल्कि एक काव्य है, जिसे सरस बनाने के लिए घटनाओं एवं पात्रों में विषमता आ गई है।

भाषा की अनेकरूपता के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि रासो के रचयिता चन्द बरदाई षट्भाषा शास्त्री थे उन्हें जालन्धरी देवी का इष्ट था, जिससे अदृष्ट काव्य की रचना भी कर सकते थे। अन्य समाधान यह है कि जब बादशाह शहाबुद्दीन गौरी इनके आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, उस समय 'पृथ्वीराज रासो' पूर्ण नहीं था, चन्द बरदाई ने गज़नी जाते समय अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया था–

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

अतः रासो की भाषा में परिवर्तन स्वाभाविक है।

एतदर्थ उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

प्रश्न 6-आदिकालीन हिन्दी साहित्य का सामान्य परिचय देते हुए इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों (विशेषताओं) पर प्रकाश डालिए। अथवा **"आदि कालीन हिन्दी साहित्य में पर्याप्त विविधता है।" इस कथन को इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर स्पष्ट कीजिए।**

उत्तर- हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल सम्भवतः सर्वाधिक विवादित काल सीमा निर्धारण नामकरण एवं प्रवृत्ति जैसे विषयों पर आज भी किसी निश्चित निर्णय पर

पहुँचा जा सका है। लगभग सभी विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार इस काल का विश्लेषण किया है और अपने विचार के पक्ष में पर्याप्त तर्क भी दिया है। अत्यधिक विश्लेषण ने भी इस काल को उलझा दिया, जिसके कारण कोई सर्वसम्मत निर्णय असम्भव ही लगता है।

सबसे बड़ी समस्या इस काल के नामकरण को लेकर है। हिन्दी साहित्य के अन्य किसी भी काल का इतना अधिक नामकरण नहीं हुआ जितना कि इस काल का। 'आदिकाल', 'चारणकाल', 'संधिकाल', 'वीरगाथाकाल', 'सिद्धसामन्त युग' और 'आधारकाल' आदि अनेक नाम अपने-अपने पक्ष में तर्कों की एक मजबूत नींव पर खड़े हैं।

कर्नल टाड ने अपने ग्रंथ 'एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' में सर्वप्रथम इस काल को चारणकाल कहा था। उनका तर्क था कि चूँकि आदिकाल का साहित्य चारणों ने लिखा था जो राज दरबारों रहा करते थे और अपने आश्रयदाताओं की कीर्ति उनके शौर्य तथा उनके उत्साहवर्धन हेतु प्रभावोत्पादक कविताएँ रचते थे और अपने कवि कर्म द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। अतः इस आधार पर इसे चारणकाल कहना उचित ही होगा। डा० ग्रियर्सन एवं डा० रामकुमार वर्मा भी इसी नाम की पुष्टि करते हैं। किन्तु यह तर्क उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक तो भारत में चारणों के आगमन का काल विवादित है। दूसरे इस मान्यता के अनुसार तो साहित्य की रचना चारणों के अतिरिक्त और किसी ने की ही नहीं जो नितांत गलत है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस काल को समय सीमा के आधार पर आदिकाल कहते हैं। किन्तु मोहन अवस्थी के अनुसार "आदि शब्द के विरुद्ध सबसे बड़ी और पहली आपत्ति यह है कि यह शब्द अपनी व्यंजना के कारण अत्यन्त भ्रामक है। 'आदि' शब्द से विकास धारा की प्रारम्भिक अवस्था का बोध होता है, साहित्य का आदिकाल चिन्तन की प्रथम सीढ़ी की ओर संकेत करता है और कल्पना छन्द प्रबंन्ध आदि के बाल प्रयास का सूचक है, किन्तु जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं वह इस धारणा के एकदम प्रतिकूल साहित्यिक सम्पन्नता वैचारिक परिपक्वता का काल है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इस काल को वीरगाथा काल कहा है। उन्होंने पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, परमाल रासो, जयमयंक जस चन्द्रिका विजय रासो, आदि ग्रंथों की वीरता प्रधान प्रवृत्ति को देखते हुए ही इस काल को वीरगाथा काल के नाम से अभिहित किया किन्तु इनमें से अधिकांश ग्रंथों की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है, दूसरे ऐसा नहीं कि इस काल में वीर रस के अलावा अन्य विषयों पर काव्य रचना हुई ही नहीं अतः यदि इस नाम को स्वीकार कर लिया जाय तो इस काल की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपना अस्तित्त्व ही खो देंगी।

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन् ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यधारा' में इसको 'सिद्ध सामन्त युग कहा है। तर्क यह है कि सामन्तों के संरक्षण में सिद्धों ने काव्य रचना की। किन्तु इस काल में उच्चकोटि के जैन कवियों की जो सूची है उसे कहाँ ले जाया जाए दूसरे रीतिकालीन समग्र साहित्य ही सामन्तों के संरक्षण में लिखा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी एक नाम इस काल की सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्त्व करने में असमर्थ है ऐसे में या तो आदि काल को ही उपयुक्त माना जाए। आदिकाल शब्द की भ्रामकता से बचते हुए या फिर मोहन अवस्थी द्वारा सुझाया गया नाम आधारकाल जिसके पीछे तर्क है कि हिन्दी साहित्य की वो सभी प्रवृत्तियाँ जिनका आगे चलकर विकास होता है किसी न किसी रूप में आदिकाल में मौजूद है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ- आदिकालीन साहित्य विविध रंग-रूपों में तत्कालीन समाज की अभिव्यक्ति करता है। साहित्य अपने प्रथम सोपान पर भी इतना समृद्ध हो सकता है ? साहित्य के पाठकों के लिए यह आश्चर्य का विषय है। आदि काल की प्रवृत्तियों को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत देख सकते हैं।

1.सिद्ध साहित्य

बौद्धधर्म के विकृत रूप वज्रयान या सहजयान से सिद्धों का सम्बन्ध है। अनुभव कराने के लिए उपनिषदों में प्रतिपदित सहवास सुख को ही वज्रयानियों ने सब कुछ मान लिया है। इस लिए इस सम्प्रदाय में सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का योग आवश्यक है। इस स्त्री को शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे। पंचमकार का अबोध सेवन इस साधना का अनिवार्य अंग था। ये लोग पारंगत तांत्रिक और अलौकिक शक्तियों के स्वामी माने जाते थे। सिद्ध साहित्य बहुत दिनों तक अज्ञात अवस्था में था। सन् 1907 ई० में हरप्रसाद शास्त्री को इसका पता चला। राहुल

सांस्कृत्यायन ने हिन्दी काव्य धारा में इनकी रचनाओं का संकलन किया। राहुल जी ने अट्ठा सिद्धों की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत किया है। सरहपा, शबरपा, भुसुकपा, लुईया, कुकुरि विरुपा, आहपा, महोपा, आदेपा, आदि।

इन सिद्धों के काव्य का वर्ण्य विषय है सहज, संयम, गुरु सेवा सहजमार्ग महासुद्ध प्रा पाखण्ड और आडम्बर का खण्डन। सिद्धों ने ज्ञान के स्थान पर अनुभूति को महत्त्व प्रदान कि निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति अथवा राग का उपदेश दिया है। सिद्धगण प्रवृत्तियों के दमन को ठीक न मानते। तान्त्रिक गुह्य साधना में मंत्रों की प्रवृत्ति के कारण सिद्धों की भाषा प्रतीकात्मक हो गयी है। भाषा गूढ़ रहस्यात्मक तथा दुरूह रूपकों से मुक्त होने के कारण संधा भाषा कहलायी। यह दुर्बोध और अटपटी है। इसको स्पष्ट करने के लिए भाँति-भाँति की कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ है। सिद्ध काव्य दो रूपों में उपलब्ध है। 1.दोहा कोष, 2.चर्यापद।

2. नाथ साहित्य

सिद्धों एवं शैव साधकों के मेल से नाथ पन्थ का आर्विभाव हुआ। इस पन्थ के कई नाम यथा सिद्धमत, सिद्धमार्ग योग सम्प्रदाय अवधूत और अवधूत सम्प्रदाय। नाथपंथ सिद्धांत की दृ से शैवमत के अंतर्गत ही आता है। किन्तु इसका व्यवहार पक्ष दृष्टयोग से सम्बद्ध है। मूल स से नाथों की संख्या नौ है। उनके नाम क्रम से इस प्रकार मान्यता प्राप्त हैं- आदिनाथ, मत्स्येन्द्रना जालंधरनाथ, गोरखनाथ, नागार्जुन, सहस्त्रार्जुन, दत्तात्रेय, दवेदत्त, और जड़ भरत।

नाथ पंथी कविताओं का विषय भावावेग शून्य शुष्क ज्ञान है। आचरण की शुद्धता चारित्रिक दृढ़ता के क्षेत्र में इन कविताओं ने प्रसंशनीय कार्य किया है। यह दूसरी बात है गृहस्थ जीवन की उपेक्षा कर देने के कारण उनमें नीरसता है। विषय तो ज्ञान वैराग्य का है कि पद गेय है। प्रश्नोत्तरी शैली द्वारा वे अपने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करते हैं। उपलब्धियों द्व विषय निरुपण उनकी विशिष्ट शैली है। गुरु की महत्ता यहाँ भी स्वीकृत है। इनके यहाँ गुरु प्रकाश स्वरूप है। जीवन की स्वाभाविक दशाओं और अनुभूति से इनकी रचनाओं का सम्बन्ध होने के कारण शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से उनका बहुत अधिक महत्त्व नहीं है लेकिन फिर भी साहित्य को नकारा नहीं जा सकता।

घूमक्कड़ी प्रवृत्ति के कारण उनकी भाषा में अनेक बोलियों के शब्दों का मिश्रण है। उनकी भा पर पूर्वी हिन्दी का प्रभाव है। भोजपुरी प्रमुख होने पर भी बंगला, उड़िया, नेपाली का असर है। जह तहाँ मराठी, गुजराती तथा पंजाबी शब्दों के प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। खड़ी बोली के बीज उन रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। गोरखनाथ की रचनाएँ तो खड़ी बोली में लिखी गयी हैं।

3. जैन साहित्य

पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने भी अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किय इन कवियों की रचनाएँ आचार, रास, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती है। आचा शैली के जैन काव्यों में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गई है। फागु अ चरित काव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध है। जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित तथा वैष्ण अवतारों की कथाएँ जैन- आदर्शों के आवरण में 'राम' नाम से पद्यबद्ध की गई हैं। श्रावणाच भरतेश्वर बाहुबली रास, चन्दनबाला रास, आदि प्रमुख रचानाएँ हैं।

4. रासो साहित्य

रासो काव्यों को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित्र का व करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित्र को सम्मिलित करा लेते थे। यही कारण है कि इन ग्रंथों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिल है तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषारूपों की झलक पायी जाती है। इस तरह उत्तरवर्ती राजाओं प्रसिद्ध अंश जुड़ गये हैं। 'खुमाण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीर रासो', 'पृथ्वीराज रास 'परमाल रासो' आदि प्रमुख रासो काव्य हैं।

5. लौकिक साहित्य

आदि काल में उपर्युक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त स्वच्छन्द रूप से लौकिक विषयों पर ग्र लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। उदाहरणस्वरूप 'ढोला मारूरा' दोहा, 'जयचन्द प्रकाश', 'जयमय जसचन्द्रिका', 'बसंत विलास', 'खुसरो की पहेलियाँ' आदि प्रमुख लौकिक साहित्य की कृतियाँ है

निष्कर्ष- इस प्रकार हम देखते हैं आदिकालीन साहित्य में भाषा जिस स्तर पर भी रही साहित्य में पर्याप्त विविधता है और अपने समय के अनुसार उल्लेखनीय प्रवृत्तियों की रचना की अपेक्षित उपलब्धता संभव दिखती है।

2021/9/20 14:41

खण्ड - 'ग'

3 - भक्तिकाल (1400 ई० से 1600 ई० तक)

प्रश्न 7-भक्ति आन्दोलन की महत्ता को परिभाषित करते हुए हिन्दी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।

अथवा

भक्तिकालीन 'निर्गुण' और 'सगुण' काव्यधाराओं में समानता एवं असमानता पर प्रकाश डालिए।

अथवा

'सगुण' राम भक्ति तथा कृष्ण भक्ति काव्य की सैद्धान्तिक एवं काव्यगत विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

राम काव्य परम्परा की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए राम काव्य में तुलसी दास के स्थान पर मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

राम भक्ति काव्य परम्परा एवं कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा की प्रमुख प्रवृत्तियों (विशेषताओं) को रेखांकित कीजिए।

अथवा

''अगर इस्लाम न आया होता तो भी हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'' इस कथन के परिप्रेक्ष्य में भक्ति आन्दोलन के उदय को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर-

भक्ति आन्दोलन

भक्ति दक्षिण भारत में अंकुरित हुई और उत्तर भारत में पल्लवित। यद्यपि विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं कि भक्तिकाल की मूल प्रेरणा उत्तरी भारत में विकसित हुई। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** का मत है कि-"इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही। अपने पौरुष हताश जाति के लिए भगवान् के शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था" **डॉ० गुलाब राय** का भी मत है कि- "हार की मनोवृत्ति में आध्यात्मिकता या शृंगारिकता की ओर झुकना मानव स्वभाव है।" उक्त दोनों विद्वान् पराजित मनोवृत्ति में भक्ति का उदय स्वीकार करते हैं। बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य में यही मान्यता प्रचलित रही किन्तु आज के विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने इस मत का प्रबल तर्कों के साथ खण्डन करके यह सिद्ध कर दिया है कि भक्ति काल का आर्विभाव असहाय जनता की भावनाओं की प्रतिक्रिया मात्र नहीं हैं बल्कि दक्षिण में भक्ति का जो अबाध स्रोत बह रहा था, वह मौका पाकर उत्तर भारत में एकदम पल्लवित और पुष्पित हो गया। उनका यह भी कहना है कि अगर भक्ति असहाय और निराश जनता के मन की प्रतिक्रिया होती है कि पहले उसे उत्तरी भारत में उत्पन्न होना चाहिए था, किन्तु हुई वह दक्षिण में। अत: यह कहा जा सकता है कि भक्ति परिस्थितियों में अचानक बिजली की चमक फैल जाने वाली प्रतिक्रिया होती तो इसके लिए तो सैकड़ों वर्षों से मेघ खण्ड एकत्र हो रहे थे और वे एकाएक 14वीं-15वीं शताब्दी में आकर शास्त्रसिद्ध आचार्यों का आधार पा गये। उत्तर भारत में जन साधारण में पौराणिक विश्वासों के रूप में धर्म भावना विद्यमान थी जो इस काल में अनायास वैष्णव आचार्यों के द्वारा प्रसारित हुई और देखते-देखते उत्तरी भारत में फैल गई। कबीर ने भी इसका समर्थन किया है।

सामाजिक परिस्थितियाँ

यवनों ने विजय करने के बाद भारतीय सामाजिक ढाँचे को पूरी तरह झकझोर डाला। विजेता यवनों ने पराजित हिन्दुओं को अपने से हीन समझा जिसके कारण उन्हें घोर अपमानजनक और नैराश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता तो मिली, पर उसके कोमल कुसुम में जज़िया का कीट प्रवेश कर गया इससे उन्हें मानसिक पीडा हुई। यवन शासकों ने हिन्दुओं को उच्च पदों से वंचित कर दिया उनके धार्मिक विषयों का निर्णय भी काजी अपने इस्लाम धर्म के अनुसार देने लगे। प्रजा का जीवन भी विलासितापूर्ण हो गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही नैतिक पतन हो गया। मदिरा सेवन का प्रचलन बढ़ गया धार्मिक शिथिलता ने उद्दाम विलासिता के उत्कर्ष में और भी सहयोग दिया। समाज अनेक अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों से ग्रस्त हो गया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

अध: पतित हिन्दू जाति के अभ्युत्थान की चिन्ता धार्मिक आन्दोलन बन गई। सिद्धों तथा नाथ पंथियों की विलक्षण धार्मिक क्रियाओं से वह भयभीत था, इस्लाम धर्म के सशक्त प्रचार ने उसे और भी भयभीत कर दिया। हिन्दू धर्म की रक्षा के सन्दर्भ में उस समय एक नवीन धार्मिक चेतना का उदय हुआ। धर्म की इस नवीन चेतना को जन्म देने का श्रेय दक्षिण के कुछ सन्तों

2021/9/20 14:41

को है, जिन्होंने विष्णु भक्ति पर बल दिया। इनमें भी सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य का नाम उल्लेख है। इनका आविर्भाव 12वीं शदी में हुआ। इन्हीं के शिष्य रामानन्द ने रामभक्ति का प्रचार किया। श्री बल्लभाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बकाचार्य ने कृष्णभक्ति पर बल दिया।

'नर्गुण' काव्य का प्रभाव

निर्गुण सन्त कवियों पर अद्वैतवाद का प्रभाव है। इस वाद ने माया को जीव और ब्रह्म की द्वैत भावना का कारण बताया है। इसी बात को कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना,
यह तथ कथौ गियानी।

विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव रामभक्ति शाखा पर प्रमुख रूप से पड़ा। माधवाचार्य के अद्वैतवाद का कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद ने हिन्दी साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया। कृष्ण भक्ति शाखा इसी वाद की देन है। इसी शाखा पर निम्बकाचार्य के द्वैताद्वैतवाद का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। चैतन्य के चैतन्या-चिन्त्यवाद का अपेक्षाकृत कम ही प्रभाव है। जो है वह भी परोक्ष रूप में। इन वादों के अतिरिक्त सिद्धों और योगियों की विचारधारा का भी हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा है।

'सगुण' राम भक्ति काव्य का प्रभाव

हिन्दी राम भक्ति धारा में अनेक कवि हुए किन्तु इस धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। तुलसी के पूर्व का हिन्दी राम साहित्य प्रायः अप्रकाशित है। उनके पूर्व के ऐसे रामभक्तों में, जिनकी हिन्दी रचनाएँ मिलती हैं, रामानन्द, विष्णुदास और ईश्वरदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विष्णुदास ने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी रूपान्तर किया था और ईश्वरदास ने भरत-मिलाप की रचना की थी। किन्तु इसका विशेष महत्त्व नहीं है। तुलसी के जीवनकाल के आस-पास ही सूरदास ने अपने कई पदों में राम-चरित्र का गान किया था जो साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ठीक इसी समय रामभक्ति धारा में अग्रदास द्वारा प्रवर्तित एक नया विकास दिखाई पड़ता है। उन्होंने जानकी (सीता) की एक सखी की भावना से रामभक्ति की है। इसी भावना से प्रेरित उनकी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। उनकी यह मधुर उपासना धारा तुलसी के मर्यादावाद के कारण बहुत दिनों तक दबी रही किन्तु लगभग 100 वर्ष बाद बड़े वेग से उमड़ी।

रामभक्ति काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

रामभक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं को अग्रलिखित शीर्षकों के आधार पर वर्णित किया जा सकता है-

1. **राम के चरित्र का गान**-समस्त राम-भक्त कवियों ने अपने आराध्य राम के महिमामय चरित्र का भावपूर्ण गायन किया। राम के शील और सौन्दर्य से पूर्ण चरित्र के गायन को ही तुलसी जीवन का परम फल मानते हैं।

''देह धरे कर यह फलु भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।''

2. **भक्ति-भावना**-राम-भक्त कवियों ने राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना को व्यक्त किया है और जन्म-जन्मान्तर तक इसी भक्ति की प्राप्ति की कामना व्यक्त की है। 'चातक' इस भक्ति का आदर्श प्रतीक है।

3. **मर्यादित जीवन की प्रतिष्ठा**-'मर्यादा' रामभक्ति साहित्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। राम स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।

4. **लोकमंगल का सन्देश**-राम-भक्त कवियों ने समाज को, लोक को अपनी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होने दिया। उनकी स्पष्ट घोषणा है-''**परहित सरिस धरम नाहिं भाई परपीड़ा सम नहीं अधमाई।**''

5. **समन्वय की भावना**-भारतीय संस्कृति की प्रधान विशेषता समन्वय की भावना है। इसका पूर्ण उत्कर्ष राम-काव्य, विशेषतः तुलसी साहित्य में मिलता है। निर्गुण-सगुण का, भक्ति ज्ञान और कर्म का, शैव और वैष्णव भक्ति का, शक्ति, शील और सौन्दर्य का, जीवन के विविध पक्षों का तथा विविध काव्य-शैलियों का समन्वय तुलसी के साहित्य में देखा जा सकता है।

6. **ब्रज एवं अवधी का प्रयोग**-इन कवियों की भाषा प्रधानतः अवधी (रामचरित मानस) रही है, पर ब्रज भाषा का (विनय पत्रिका) समान अभिरुचि और अधिकार से प्रयोग करके उन्होंने अपनी अद्भुत भाषा-सामर्थ्य का परिचय दिया है।

2021/9/20 14:41

इस प्रकार हिन्दी का रामभक्ति साहित्य परम उत्कृष्ट साहित्य है। तुलसी इस साहित्य-धारा की अनुपम विभूति हैं।

तुलसी के रामकाव्य का आधार- तुलसी के समक्ष हिन्दी का साहित्य प्राय: नगण्य था। किन्तु संस्कृत तथा अपभंश भाषाओं का बहुत ही सम्पन्न राम साहित्य उनके सामने वर्तमान था। संस्कृत ग्रन्थों में आध्यात्म रामायण, भुशुण्डि रामायण, वाल्मीकि रामायण, भवभूतिकृत उत्तर रामचरित, कालिदासकृत रघुवंश, जयदेवकृत प्रसन्नराघव और अपभ्रंश रचनाओं में 'पउम चरिउ' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वस्तुत: हिन्दी की रामकाव्य धारा में तुलसीदास ही सर्वोपरि हैं। अन्य कवि जो हुये भी हैं उनकी ज्योति तुलसी की अपूर्व आभा के सामने मन्द पड़ गई है। अत: हिन्दी राम काव्य की विशेषताएँ दूसरे शब्दों में तुलसीदास की ही विशेषताएँ हैं।

रामकाव्य और तुलसीदास

डॉ० ग्रियर्सन का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि "बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। ये असाधारण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे। वास्तव में उनका काव्य इतना सर्वांगपूर्ण है कि चाहे जिस दृष्टि से देखा जाय वह खरा ही उतरता है। लेकिन उनकी भी विशेषताओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने हजारों वर्ष पुरानी महान् भारतीय संस्कृति का उसके विशाल वाङ्मय का मन्थन कर जहाँ कहीं से भी जो कुछ अच्छा से अच्छा उन्हें मिल सका उन उपकरणों की सहायता से एक आदर्श समन्वय प्रस्तुत किया। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना प्रकार की परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लोक और शास्त्र के व्यापक ज्ञान ने तुलसी को अभूतपूर्व सफलता प्रदान की। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा-संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का, ब्राह्मण चाण्डाल का, शैव और वैष्णव का"-रामचरितमानस आदि से अन्त तक समन्वय काव्य है। इस महान् आदर्श को उपस्थित करने के लिए उन्होंने राम का चरित्र चुना।

तुलसी के राम काव्य की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि उनमे भारतीय जीवन का व्यापक चित्रण है अर्थात् उसका कदाचित् ही कोई पहलू छूट पाया हो। उसमें जन्म ग्रहण करने से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी संस्कार होते हैं सबका वर्णन है। उसमें पिता-पुत्र, भाई-भाई के प्रेम और द्रोह, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम और तिरस्कार, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, ब्राह्मण-शूद्र, छूत-अछूत, नगर-जीवन, साम्य-जीवन, मन्त्री-पुरोहित, कृषक-व्यापारी आदि मानव के अनेक सम्बन्धों तथा परिस्थितियों का उत्कृष्ट चित्रण है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने अनेक पात्रों की सृष्टि भी की है।

कृष्ण भक्ति साहित्य

संस्कृत काव्यों में कृष्ण भक्ति का स्वरूप बहुत प्राचीन काल से विकसित हो गया था। अश्वघोष (प्रथम शताब्दी) के बुद्ध चरित में गोपाल कृष्ण की लीला का उल्लेख मिलता है। लाल सातवाहन (प्रथम शताब्दी) ने लोक प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संग्रह करवाया। उनमें कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा तथा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। यद्यपि इन गाथाओं में भक्ति भावना की झलक नहीं मिलती फिर भी इन गाथाओं का कृष्ण-भक्ति में काफी उपभोग हुआ है। भट्ट नारायण (8वीं सदी) ने अपने वेणीसंहार नाटक में नन्दी के श्लोक में रास के अन्तर्गत राधा के केलि-कुपित होने पर कृष्ण ने अनुनय का उल्लेख किया है। जयदेव का गीत गोविन्द राधा माधव के उद्दाम श्रृंगार का वर्णन करते हुए भी धार्मिक काव्य है। विद्यापति गोविन्दकार से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। गीतगोविन्द के अनुकरण पर संस्कृत में अनेक कृष्ण-काव्य की रचना हुई।

हिन्दी कृष्ण काव्य- हिन्दी में कृष्ण-काव्य का आरम्भ विद्यापति से माना गया है। यद्यपि उनकी पदावली में राधा-कृष्ण का मादक श्रृंगारी चित्रण है और भक्ति का अभाव है। ऊपर से वासना का रंग गहरा है। तथापि कृष्ण सम्बन्धी काव्य-रचना तो आरम्भ हो गयी थी। कृष्ण काव्य में सरलता, सरसता और प्राणों का संचार करने का श्रेय सूरदास को है। सूरदास के द्वारा कृष्ण-काव्यों को अत्यन्त लोकप्रियता मिली। अष्टछाप के कवि ने कृष्ण भक्ति प्रसार और प्रचार में बहुमूल्य योगदान दिया।

कृष्ण भक्ति और अष्टछाप

श्री बल्लभाचार्य के पीछे उनके पुत्र गोसांई बिठ्ठलनाथ जी ने पुष्टि मार्ग का उत्तराधिकार सम्भाला। अनेक कवियों में सर्वोत्तम आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की। अष्टछाप

2021/9/20 14:42

के आठ कवि हैं-सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और न
दास।

कृष्ण भक्ति काव्य और सूरदास- कृष्ण भक्ति काव्य की ओर अष्टछाप के कवियों
सूरदास का महत्त्व सर्वोपरि है। अष्टछाप ही क्यों सूरदास विश्व के महानतम कवियों में से एक
हैं। बाल-लीला का ऐसा मनोहारी वर्णन जैसे चक्षुहीन सूरदास ने किया है, विश्व साहित्य में कहीं
न मिलेगा।

सूर पहले आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर रहते थे। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के
मन्दिर बन जाने पर एक बार जब बल्लभाचार्य गऊघाट पर उतरे तो सूरदास भी उनके दर्शन के
आये। सूर ने एक पद गाकर सुनाया। आचार्य ने कहा-

'काहे को घिघियात हो कछु, भगतव् लीला वर्णन करि।'

सूर बल्लभाचार्य के शिष्य हो गये। उनकी पद-रचना की निपुणता देखकर बल्लभाचार्य
जी ने उन्हें अपने श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। 'सूर साराव्रली' में इन सबका
संकेत मिलता है।

बल्लभाचार्य के पुत्र गोसांई बिट्ठलनाथ के सामने गोवर्धन की तलहटी के पारसोली ग्राम में
सूरदास की मृत्यु हो गयी। इसका पता भी "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" से मिलता है।

किंवदन्ती है कि सूर ने लगभग एक लाख से भी अधिक पदों की रचना की थी। आज जो पद
उपलब्ध हैं उनकी संख्या लगभग एक-डेढ़ हजार के निकट है। 'सूरसागर' में इन सब पदों का
संकलन है। 'सूरसागर' की कथा भागवत् के दशम स्कंध पर आधारित है। कृष्ण-जन्म से मथुरागमन
तक की कथा अत्यन्त विस्तार से की गई है। बाल-लीला, रास-लीला, गोचारण-लीला, चीर-हरण
लीला आदि मधुर प्रसंगस्थली हैं जिनकी ख्याती आज सारे संसार में व्याप्त हो चुकी है।

कृष्णभक्ति काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

कृष्ण भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं को अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत
विवेचित किया जा सकता है-

1. **श्री कृष्ण आराध्य देव-**कृष्णभक्त काव्यधारा के कवियों के आराध्य भगवान् विष्णु के
षोडश-कला-सम्पन्न अवतार श्री कृष्ण हैं। वह भक्तों को सुख देने और नाना प्रकार की मनोहारिणी
लीलाओं से अपने आराधकों को आनन्दित करने के लिए अवतार ग्रहण करते हैं। इन कवियों ने
श्री कृष्ण के मधुर-स्वरूप की उपासना को ही प्रधानता दी है।

2. **कृष्ण के मनोहारी स्वरूप की आराधना-**श्री कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं। उनकी
मनोहारिणी सरस क्रीड़ाएँ और लीलाएँ ही भक्त जनों को भाती हैं। भगवान् श्री राम की भाँति लोक
रक्षा करने वाला स्वरूप कृष्ण के भक्तों को कम भाया है। सुदर्शन चक्रधारी कृष्ण की अपेक्षा
मोहन की मूर्ति ही कृष्ण भक्तों के भाव-जगत् में निवास करती है। नन्द के आँगन में खेलने वाले,
दधि-माखन लूटने वाले, गोचारण करने वाले, गोपियों के साथ रास-बिहार करने वाले श्रीकृष्ण
की छवियों का अंकन इस धारा के कवियों ने किया है।

3. **सख्य भाव की भक्ति-** राम भक्ति काव्य के विपरीत कृष्ण भक्ति काव्य के कवि अपने
आराध्य को अपना नित्य सहचर मानते हैं। मित्रता के अधिकार से यदा-कदा वह टेढ़ी बात भी
कह जाते हैं। उनकी अन्तरंग लीलाओं का वर्णन भी वे सखा-भाव से करते हैं। दीनता, दास्य और
याचना इन कवियों को अधिक नहीं सुहाती।

4. **बाल लीलाओं के वर्णन का महत्त्व-**पुष्टि सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण
भगवान् के बाल-स्वरूप की उपासना को इस काव्यधारा में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। 'सूर' की
बाल लीलाओं का वर्णन तो अपनी सानी नहीं रखता। बाल मनोविज्ञान के सजीव चित्रण और
सूक्ष्म निरीक्षण ने सूरदास के बाललीला वर्णन को अद्वितीय बना दिया है।

5. **भ्रमरगीत परम्परा का निर्वाह-**भ्रमरगीत की रचना इस काव्य की एक निजी विशेषता
है भौंरें को लक्ष्य बनाकर गोपियों के माध्यम से बड़ी मधुर और मार्मिक विरह-उक्तियाँ इन
कवियों ने प्रस्तुत की है। सूरदास का 'भ्रमरगीत' तो सर्व-प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त नन्ददास
आदि ने भी इस परम्परा को विकसित किया है।

6. **भाषा-**कृष्णभक्ति काव्य के कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को मुखरित करने का श्रेय
ब्रजभाषा को ही प्रदान किया है। ब्रज बोली को भाषा का रूप देने का श्रेय कृष्ण काव्य के
शिल्पियों को ही जाता है।

7. **शैली-**कृष्णकाव्य की रचना प्रधानतः मुक्तक शैली में हुई है। गीति शैली का चरम
विकास इस काव्य में दिखाई देता है। भावात्मक, चित्रोपमता, आलंकरिकता और वर्णन-विस्तार
आदि काव्य की अन्य शैलीगत विशेषताएँ उल्लेखनीय है।

प्रश्न 8-हिन्दी सूफी काव्य परम्परा में जायसी के स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

हिन्दी सूफी काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय देते हुए मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

सूफी काव्य का ऐतिहासिक परिचय देते हुए इस काव्य के अन्तर्गत प्रेमाख्यानक काव्य के साहित्यिक विशेषताओं (प्रवृत्तियों) का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

अथवा

प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में मलिक मुहम्मद जायसी के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

प्रेमाख्यानक (सूफी) काव्य की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए जायसी का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।

उत्तर-हिन्दी में सूफी काव्यधारा की प्रेरणा 1370 ई० मौलाना दाउद के 'चन्दायन' नामक एक प्रेमाख्यान के काव्य को माना जाता है। यद्यपि यह सूफी ग्रन्थ नहीं था किन्तु इस ग्रन्थ में सूफी संवेदना के दर्शन अवश्य मिलते हैं। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना शुरू हुई हो ऐसा माना जा सकता है। इस काल के अन्य कवि असाइत ने 'हंसावली' नामक एक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की है जिसमें सूफी काव्य के समस्त गुण परिलक्षित होते हैं। इस ग्रन्थ के बाद सूफी काव्य परम्परा की प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' को माना जाता है। जायसी कृत यह ग्रन्थ सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का पूर्ण ग्रन्थ है। डॉ०मोहन अवस्थी ने 'चन्दायन' को सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा का प्रथम काव्य ग्रन्थ माना है। इस काव्य में यात्रा की घटनायें, दैवी सहयोग, कथानक, रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं तथा साथ ही साधारण जन जीवन का चित्रण बारहमासा पद्धति का विरह वर्णन, साथ ही दो पतियों का रखना आदि रूढ़ियां 'चन्दायन' में दृष्टिगत होती है। सूफी प्रेम काव्य कोमल हृदय की सुन्दर एवं सरस अभिव्यक्ति है।

भक्तिकाल में ईश्वर को लक्ष्य कर तीन प्रकार की रचनाएँ लिखी गयी। 1.ज्ञान को प्रधान मानकर लिखी गई कविताएँ 2.प्रेम प्रधान काव्य 3.भक्ति प्रधान काव्य।

प्रेम प्रधान काव्य रचना करने वाले सूफी फकीर थे। सूफी का अर्थ सूफ अर्थात् ऊन के मोटे-कपड़े पहनने वाला और सादा जीवन बिताने वाला होता है। सन्त काव्य और सूफी कवियों के प्रेम काव्य हमारे साहित्य में स्पष्टत: मुसलमानी राज्य के विकार हैं जो राम और कृष्ण साहित्य पर लिखे गये सिद्धान्तों से सामान्तर होते हुए भी वस्तुत: उनसे भिन्न हैं।

भारत में इस्लाम के आने के साथ ही साथ सूफी धर्म भी आया इस्लाम तो बड़ा कट्टर था किन्तु सूफी प्रेम की पीर लेकर आये। क्योंकि उस समय भारतीय जनता को इस्लामी कट्टरता को झेलने के लिए प्रेम की आवश्यकता थी इसलिए प्रेम कथाओं का खूब प्रचार हुआ। सन्तों के मानवतावादी दृष्टिकोण से हिन्दू मुसलमानों के समन्वय को शक्ति मिली थी। उसी प्रकार सुफियों के प्रेम काव्य से हिन्दु मुस्लिम एकता को बल मिलने लगा।

सूफियों ने सार्वजनिक तत्त्व प्रेम के द्वारा परोक्ष रूप से दोनों धर्मों के बीच पनपने वाले विद्वेष को कम कर दिया। सूफी साधना भी निर्गुणोपासना के अन्तर्गत आती है। किन्तु सन्तों और सूफियों के माध्यम में अन्तर है। सन्तों की दृष्टि में यह संसार माया है इसलिए वे इस संसार को छोड़ने का उपदेश देते है लेकिन सूफी इस संसार को उस ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए जिन कथाओं का चुनाव किया था वे सभी ग्राह्य जीवन से सम्बन्धित है।

सन्तों की उलटबाँसियाँ जनता की सामान्य बुद्धि के परे थी किन्तु सूफियों का विरह विलाप तो सबके हृदय को स्पर्श करता था। सन्तों की सहज साधना लोगों के लिए असहज थी किन्तु सूफियों का पन्थ दुहेला सबके लिए सुलभ था। सूफियों ने प्रेम माध्यम से ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग सुलभ कराया। सूफी परमात्मा को स्त्री और जीव को पुरुष रूप में चित्रित करते हैं। जबकि भारतीय साधना में परमात्मा पुरुष और जीवात्मा स्त्री रूप में कल्पित हुआ करती है सूफी मत का प्रेरणा स्रोत फारस का सूफी सम्प्रदाय था। सूफियों का अधिकांश काव्य 'प्रबन्ध काव्य' के रूप में है जिसमें प्रकृति का विस्तार से वर्णन है। उनके मत में प्रकृति मे उसी ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन होता है। सूफी काव्य की भाषा व्यवस्थित अवधी है।

सूफियों की भाव व्यंजना का अपना महत्त्व है। उन्होंने मानव हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म भावों तक बैठकर रति और शोक आदि के अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किए हैं। सन्तों के रहस्यवाद में

शुष्कता और नीरसता है किन्तु सूफियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर और सरस व्यंज हुई है।

जायसी- सूफी काव्य धारा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। उनकी एकमा कृति पद्मावत ही उनकी साहित्यिक महानता का प्रमाण है। जायसी के काव्य की पहली विशेष है-उनका समन्वय जो उन्होंने नाथ पंथी हठयोग के साथ किया है। भारत के हठयोग के सू सूफी सिद्धांतों को मिलाकर उन्होंने प्रेम योग की सीख दी है। दूसरी विशेषता है पद्मावती भारतीय गृहस्थ जीवन का सजीव चित्रण। वियोग की पीड़ा के कारण व्यक्त होने वाले हृदय उद्‌गार गहरा प्रभाव डालते हैं।

यह तन जारौ छार करि कहौ कि पवन उड़ाउँ ।
मकु तेहि मारग होई परौ कन्त धरै जहं पाउँ।।

नागमती की विरह वेदना का वर्णन बारह मासा पद्धति पर आधारित है जिसमें प्रकृति क कवि का प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त हुआ है। पद्मावती प्रबन्ध काव्य पूरा समासोक्ति में बाँध गया है। अन्योक्ति और रूपक इसमें ढूँढना व्यर्थ है।

पद्मावत कई दृष्टियों से आदर्श महाकाव्य है। मुसलमान होते हुए भी हिन्दु धर्म एव संस्कृति का ऐसा निर्वाह एवं सम्मान प्रशंसनीय है। फारसी मसनवी शैली में इसकी रचना कर हुए भी भारतीयता की पूरी रक्षा की गई है। पूरा काव्य ही दोहे और चौपाइयों में लिखा गया है भाषा अत्यन्त सरल तथा सहज है। अलंकार स्वाभाविक रूप से आते हैं और रचना का शृंगा करके चले जाते हैं। इस प्रकार यदि देखा जाय तो जायसी और उनकी रचना श्रेष्ठ है जो स्वयं पूरी सूफी काव्य धारा का नेतृत्त्व करने की क्षमता रखते हैं।

पद्मावत का मूल्यांकन- भक्तिकालीन निर्गुण धारा के प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों जायसी का प्रमुख स्थान है। इनके द्वारा लिखित तीन कृतियाँ प्रसिद्ध हैं- पद्मावत, अखरावट त आखिरी कलाम। परन्तु इनकी कृति का एकमात्र स्तम्भ पद्मावत है, जो एक प्रबन्ध काव्य है इसमें 5 खण्ड हैं। इसकी कथा पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध का कथ काल्पनिक तथा उत्तरार्द्ध की कथा ऐतिहासिक है।

आचार्यों ने एक सफल काव्य के लिए तीन गुणों का विवेचन किया है- सम्बन्ध निर्वाह कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान, प्राकृतिक वर्णन एवं स्थान गत दृश्यों का चित्रण। स समस्त गुण पद्मावत में पाये जाते हैं। यह नायिका प्रधान काव्य है। इसमें रतन सेनानायक पद्मावती नायिका तथा नागमती रूप गर्विता स्वकीया पत्नी है। कवि ने काव्य के आरम्भ मे मानसरोवर स्थान के समय पद्मावती के रूप लावण्य का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है-

सरवर तीन पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुलाई ।।
ससि मुख अंग मलै गिरि बासा। नागिन्ह झाँपि लीन्ह चहुँपासा।।

हीरामन नाम शुक से पद्मावती का स्वाभाविक प्रेम है। यह शुक इसके नख-शिख का वर्णन करके चित्तौड के राजा रतन सिंह के हृदय में प्रेम अंकुरित करता है, जिससे वे अपनी विवाहित स्वकीया पत्नी नागमती की प्रीति का तनिक भी ध्यान न देकर पद्मावती के रूप लावण्य पर विमुग्ध होकर उसे प्राप्त करने के लिए एक साधक के समान सिंहलगढ़ पहुँचते हैं। शुक द्वारा वर्णित नख-शिख की कुछ पंक्तियाँ देखिए-

का सिंगार ओहि बरनौ राजा। ओहि क सिंगार ओहि पर छाजा।
बेनी छोरि झारि जो बारा। सरग पतार होइ अँधियारा।।

यह शुक पद्मावती के रूप-गुण का वर्णन करके केवल राजा रतनसेन के ही हृदय में प्रेम उत्पन्न नहीं करता, बल्कि राजकुमारी पद्मावती के समक्ष भी उपस्थित होकर राजा रतनसेन के रूप-गुण एवं प्रेम का वर्णन करके उसके हृदय में भी पूर्व राग अंकुरित करता है, जिससे वह अपने मन में इन्हें पतिरूप से वरण कर लेती है और कुछ समय पश्चात् राजकुमारी पद्मावती तथा राजा रतनसेन दोनों वैवाहिक सूत्र में बँध जाते हैं। अब राजा नई नवेली रानी के प्रेम में इतने विभोर हो गये कि उन्हें प्रथम विवाहिता रानी नागमती का तनिक भी ध्यान नहीं रहा, परन्तु महारानी प्रियतम के वियोग में व्याकुल होकर कोयल के समान कुहुक-कुहुक कर रोने लगती है-

कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई।
रकत आँसु धुधुची बन बोई।।

एक दिन महाराज रतनसेन को भी स्वकीया पत्नी रानी नागमती की याद आती है और ये रानी पद्मावती के साथ चित्तौड़गढ़ पहुँचते हैं परन्तु कुछ ही समय पश्चात् दिल्ली का बादशाह अल्लाउद्दीन धोखे से इन्हे कैद करके कारागार में बन्द कर देता है, जिससे दोनों रानियाँ उनके वियोग में विलखती हैं। कवि जायसी ने अपने इस काव्य में विरह का विशेषकर नागमती विरह का सुन्दर वर्णन किया है। यदि इन्हें विप्रलम्भ शृंगार का प्रधान कवि कहा जाय तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं। यों तो इस काव्य में शृंगार रस की ही प्रधानता है, परन्तु अल्लाउद्दीन की सेना तथा गोरा बादल की सेना एवं अन्त में राजा देवपाल तथा राजा रतनसेन के युद्ध वर्णन में वीर रस का भी अच्छा चमत्कार है। कवि ने अपनी कविता कामिनी को अनुप्रास, यमक, रूपक, आदि अलंकारों से भी अलंकृत किया है, जिससे काव्य की कमनीयता बढ़ गई है। पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी तथा शैली चौपाई और दोहे की है, जो प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त है।

प्रश्न 9-भक्तिकाल के विभिन्न काव्य धाराओं का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए उस काल की सामान्य विशेषताओं (प्रवृत्तियों) का परिचय दीजिए। अथवा भक्तिकालीन कविता के काव्य वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए इस काल पर एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिए। अथवा "भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है।" क्या इस कथन से आप सहमत हैं?

उत्तर-

भक्ति काल

हिन्दी साहित्य के इतिहास का यदि अवलोकन करें तो भक्ति काल का समय सं० 1375 से सं० 1700 तक माना जाता है। यह सर्वथा सत्य है इस काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कालों के साहित्य से उत्तम था। इस युग के साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस साहित्य में अनुभूति की गहनता दृष्टिगोचर होती है और साथ ही साथ इसमें भावप्रवणता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। ये दोनों गुण ऐसे हैं जो उसे आदि कालीन और रीति कालीन साहित्य से श्रेष्ठ प्रमाणित करते ही हैं साथ ही आधुनिक काल से व्यापक एवं विविधता पूर्ण साहित्य से भी ऊँचा उठा देते हैं। इतना ही नहीं इस काल के साहित्य में समस्त प्रकार के विचारधारा वाले व्यक्तियों के लिए सामाग्री उपलब्ध है।

भक्ति कालीन साहित्य की प्रमुख धारायें

प्रायः सभी विद्वान् इस काल की महत्ता को स्वीकार करते हैं। भक्तियुगीन साहित्य की प्रमुख धारायें अग्रलिखित हैं-

(1) निर्गुण पन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा-सन्त कवियों ने निर्गुणवाद में हिन्दू एवं मुसलमानों के समन्वय की सम्भावना पायी क्योंकि मुसलमान एकेश्वरवादी थे उनके लिए 'रसूल अल्लाह' के सिवा कोई दूसरा अल्लाह नहीं था। हिन्दू लोग भी सभी देवताओं को एक परमात्मा का ही रूप देखते थे। इस प्रकार हिन्दुओं का निर्गुणवाद मुसलमानों के खुदावाद के बहुत निकट था। इसलिए ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने निर्गुणवाद के आधार पर हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रसार किया। **डॉ० श्यामसुन्दर दास** के शब्दों में सन्त कवियों ने निर्गुणवाद के आधार पर ही राम और रहीम की एकता कर एवं हिन्दू-मुसलमानों की निरर्थक रूढ़ियों का विरोध कर दोनों जातियों में अविरोध भाव उत्पन्न करने का उद्योग किया। महात्मा कबीर इस धारा के कवि थे।

(2) निगुर्ण पन्थ की प्रेमाश्रयी शाखा-प्रेममार्गी काव्य धारा सूफियों और मुसलमान सन्तों की सद्भावना का परिणाम थी। अधिकांश हिन्दू सर्वेश्वरवादी थे। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद के अत्यधिक निकट हैं क्योंकि वे ईश्वर को अपने प्रेमपात्र के रूप में देखते हैं कि इन सूफी सन्तों ने हिन्दुओं की बोली में हिन्दू-प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचनाएँ की हैं। जायसी इस धारा के महान् कवि हैं।

(3) सगुण भक्तिमार्गी शाखा-इस धारा का स्रोत उन भक्तों के अन्तस्थल से फूटा जो अपने इष्टदेवों की पूजा और उपासना में तल्लीन थे। मानव जाति का कल्याण भगवद् भजन में ही देखते थे। भोग-विलास को हेय समझते थे। ऐश्वर्य का उन्हें आकर्षण न था। वे यद्यपि मुसलमानों के विरोधी नहीं थे फिर भी उनसे उन्हें मिलने की इच्छा भी न थी। यह भक्तिमार्गी शाखा ही दो उपधाराओं-(1) रामभक्ति शाखा (2) कृष्णभक्ति शाखा में प्रवाहित हुई। सूरदास जो कृष्णभक्ति शाखा के प्रधान कवि हैं और तुलसी रामभक्ति शाखा के। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिन्दू धर्म में भगवान् के निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूप मान्य हैं। भक्तों के जहां सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को अपनाया है वहीं सन्तों ने केवल निर्गुण रूप को। इन भक्तों, सन्तों का काव्य बहुमुखी

प्रतिभा सम्पन्न है। 'बहुभाव' एवं भाषा की दृष्टि से अद्वितीय है। उनकी अलंकार योजना सुष्ठु है। रस योजना एवं छन्द विधान उत्तम कोटि का है।

भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ (प्रवृत्तियाँ)

भक्तिकाल के काव्य में जीवन की समस्त कुण्ठाएँ, निराशाएँ, वेदनाएँ, आशाएँ तथा तृप्तिजनक सुख और आनन्द की अनुभूतियाँ पायी जाती हैं। भक्त कवियों के काव्य के बिना भक्तिकाल की कविता में शेष कुछ भी नहीं रह जाता। लगभग तीन सौ वर्षों से ऊपर तक माँ भारती के चरणों में चढ़ाये गये भक्ति कवियों के काव्य रूप पुष्पों की सुरभि भारतीय आकाश में छायी रही।

भक्तिकाल की विशेषताओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है–

(1) **भक्तिकाल का काव्य**–भक्तिकाल की कविता में कोमल-कान्त पदावली से युक्त सरल भाषा है, संवेदनशीलता है, काव्यात्मकता है, संगीतात्मकता है, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव की भावना है और हृदय को स्पर्श करने वाली वाणी है। भक्त कवियों की भावनाएँ उदात्त हैं। इनमें किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है किसी के गुणों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं है। भक्त कवि में किसी का कृपा पात्र बनने का लेश मात्र भी भाव नहीं। यद्यपि इन भक्ति कवियों ने अपनी कृतियों की रचना '**स्वान्तः सुखाय**' की है, फिर भी उनका काव्य '**सर्वजन हिताय**' रहा है। उदात्त चिन्तन, करुणा से छलकता हृदय–यही इस काव्य की विशेषताएँ हैं।

(2) **लोक-कल्याण एवं लोक रक्षण की भावना**–भक्ति काल की कविता में लोक कल्याण और लोकरक्षण की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। कबीर और जायसी ने अपनी विशिष्ट शैली से यह प्रयास किया कि हिन्दू और मुसलमान भारत की दोनों जातियाँ एक-दूसरे के निकट आयें। तुलसी के राम थे, जिनमें सत्यता थी, शीलता थी, सुन्दरता थी, शिवता थी और मर्यादा थी। उनमें इन सब गुणों का अद्भुत समन्वय था। तुलसी ने राम का जो सजीव चित्रण किया है उसमें जनकल्याण की भावना पायी जाती है। सूरदास के मुरली मनोहर कृष्ण भी जन-रक्षक हैं और लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत हैं।

तुलसीदास ने शैवों और वैष्णवों में अद्भुत समन्वय स्थापित किया है और मुगलों से त्रस्त जाति में एक नयी उमंग, एक नये उत्साह, एक नयी आशा का संचार किया है। उनके '**रामचरितमानस**' का रावण अत्याचारी प्रशासकों का प्रतीक है। राम जन-जन के राजा हैं और अन्तिम विजय उन्हीं की होती है, आततायी की नहीं तुलसी का काव्य सन्तप्त हृदय को रामामृत का पान कराके अथाह शान्ति प्रदान करता है।

(3) **राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव का गान**–भक्तिकाल के काव्य में भारतीय धर्म है, भारतीय दर्शन है, भारतीय आचार-विचार है, भारतीय संस्कृति है, भारतीय सभ्यता की झाँकी है। भक्ति कवियों के काव्य में भक्ति के विविध रूपों का मार्मिक वर्णन किया गया है, वे रूप हैं–सगुण के, निर्गुण के, अद्वैतवाद के, विशिष्टाद्वैतवाद के, द्वैतवाद के, द्वैताद्वैत के, अध्यात्मक के, योग के। भक्तिकाल में अतुलनीय धार्मिक सहिष्णुता के दर्शन होते हैं, किसी मत या सम्प्रदाय के प्रति कोई बैर-भाव या द्वेष भाव नहीं। इस काव्य में भिन्न-भिन्न विरोधी धारणाओं का उल्लेखनीय समन्वय है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार–"तुलसी, राम और सीता तो, आलौकिक और आदर्श व्यक्ति हैं ही, सूर, नन्ददास आदि के कृष्ण तथा राधा भी सगुण रूप में रीतिकालीन राधा-कृष्ण के समान असंयत नहीं हैं। वे पतित पावन अधिक हैं और लीला-विलासी बहुत कम। कुल मिलाकर भक्ति का काव्य-साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नयक, प्रेरक एवं उद्धरता है तथा भारतीय संस्कृति और आदर्श का सशक्त उपदेष्टा है। वह राम, श्याम, सुन्दर, गिरधर-गोपाल, अलख-निरंजन और एक ओंकार का स्मारक है जो आज भी हिन्दी जीवन के लिए प्रातः स्मरणीय है।"

(4) **संगीतात्मकता**–भक्तिकाल की कविता की प्रधान विशेषता उसकी संगीतात्मक होना है। भाव और कला के साथ संगीत का अद्भुत संगम साधा गया है। संगीतात्मकता के प्रमुख गुण हैं–आस्था, समर्पण भाव, आन्तरिक प्रेरणा और अनुभूति की तीव्रता। ये सभी गुण भक्ति काव्य में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। कबीर के, सूर के, तुलसी के, मीरा के, रसखान के पद आज भी लोगों की जुबान पर है। "**मीरा के प्रभु दरद मिटेगा-जब वैद सांवल्या होय**"–मीरा की इस आर्त ध्वनि को सुनकर कौन भाव-विह्वल न हो उठेगा? पद की संगीतात्मकता ही भावों को उद्वेलित कर देती है।

(5) **भाषा**-भक्तिकाल की कविता ब्रजभाषा और अवधी दोनों में ही रचित की गयी है। जायसी और तुलसी ने अवधी में कमाल कर दिया है और सूर, मीरा तथा रसखान आदि को ब्रजभाषा के सिरमौर हैं। तुलसीदास ने अवधी भाषा का परिमार्जन कर उसे प्रांजल बनाया। सूर और रसखान ने ब्रजभाषा का माधुर्य गुण से ओत-प्रोत कर दिया और मीरा ने ब्रजभाषा को आध्यात्मिकता की ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया। भक्त कवियों की भाषा भावपूर्ण है, रसपूर्ण है, माधुर्य पूर्ण है, सरल और कोमल पदों से युक्त है।

भक्ति काव्य का स्वरूप-भक्ति काव्य विविध प्रकार के काव्य रूपों में प्रस्फुटित हुआ है। इस समय संगीत काव्य लिखे गये, मुक्त काव्य लिखे गये, चरित काव्य लिखे गये, सूक्ति काव्य लिखे गये और प्रबन्ध काव्य लिखे गये। इन विविध स्वरूप के कारण ही भक्तिकाल रीतिकाल की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। जिस युग में कबीर, सूर, तुलसी एवं जायसी जैसे कवियों ने अपनी अमर लेखनी द्वारा भक्ति रस से सराबोर काव्यों की रचना की हो उस युग को स्वर्णयुग की संज्ञा देना समीचीन ही है।

प्रश्न 10-भक्तिकालीन निर्गुण काव्यधारा के ज्ञानाश्रयी (ज्ञानमार्गी या सन्त काव्यधारा) एवं प्रेमाश्रयी (प्रेममार्गी या सूफी काव्यधारा) शाखा की सामान्य प्रवृत्तियों (विशेषताओं) का उल्लेख करते हुए उनकी रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

अथवा

ज्ञानमार्गी सन्त काव्य की मूल प्रवृत्तियों (विशेषताओं) का वर्णन करते हुए कबीर के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

अथवा

निर्गुण सन्त साहित्य की सामाजिक चेतना का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर-भक्ति कालीन निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत दो शाखाओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम ज्ञानाश्रयी अथवा ज्ञानमार्गी शाखा है और द्वितीय प्रेमाश्रयी अथवा प्रेममार्गी या सूफी काव्यधारा। यहाँ पर सर्वप्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा का विवेचन किया जा रहा है-

ज्ञानमार्गी या सन्त काव्यधारा अथवा निर्गुण सन्त कवियों (साहित्य) की समाजिक चेतना

ज्ञानाश्रयी अथवा ज्ञान मार्गी कवि उच्च कोटि के सन्त थे अतः इस आधार पर इस शाखा को एक अन्य नाम सन्त काव्य धारा के नाम से भी जाना जाता है। इन कवियों ने ईश्वर को निराकार और सर्वव्यापक मानते हुए उसके समस्त नामों को महत्त्व दिया है। वे राम रहीम, अल्लाह, हरि आदि सभी को ईश्वर का पर्याय मानते थे इस प्रकार इन्होंने हिन्दू और मुसलमान में व्याप्त भेद-भाव को अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं सामाजिक विषमताओं तथा पाखण्डों पर भी इन कवियों ने तीक्ष्ण प्रहार किया।

सामान्य प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

भक्ति युगीन निर्गुण काव्य धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी या सन्त काव्यधारा की प्रमुख प्रवित्तियाँ अग्रलिखित हैं-

(क) एक ईश्वर में विश्वास-ज्ञानाश्रयी कवियों की यह दृढ़ मान्यता थी कि ईश्वर एक है, उसे चाहे जिस नाम से पुकारों चाहें उसे राम कहो चाहे रहीम, चाहे भगवान् कहकर पुकारों और चाहे खुदा इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता-कबीर के शब्दों में -

'कहत कबीर सुनो हो सन्तो राम न कहेउ खुदाई'

ये कवि तो साकार और निराकार के भेद को भी व्यर्थ मानते थे। उनका स्वरूप गूँगे का गुड़ है। न वह साकार है न निराकार है-

'वह तो इन दोउन से न्यारा जानै जानन हारा।'

(ख) मानव एकता के पक्षधर-सन्त कवियों की दृष्टि में मानव मात्र ईश्वर की सन्तान है। मनुष्य-मनुष्य के बीच वे किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करते। ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र जैसे भेदभाव उनकी दृष्टि में मिथ्या और निस्सार हैं। इन भावना पर उन्होंने कटु प्रहार भी किये हैं-

'जो तु तुरुक तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया?
जो तू ब्राह्मन बामनी जाया और राह ते काहे नहीं आया?'

(ग) मूर्तिपूजा तथा तीर्थ व्रत का विरोध-ज्ञानमार्गी कवियों का मूर्ति पूजा तथा तीर्थाटन आदि में कोई विश्वास न था। इनका उन्होंने स्थान-स्थान पर खण्डन किया है-

'दुनिया कैसी बावरी पाथर पूजन जाई'

(घ) बाह्याडम्बरों का विरोध-ज्ञानमार्गी काव्य में सभी प्रकार के आडम्बरों पर प्रहार किया गया है। आचरण की पवित्रता और सहज उपासना को ही ईश्वर प्राप्ति का साधना माना है।

(ङ) माया में विश्वास-सभी ज्ञानमार्गी कवि माया को मोह में डालने वाली प्रबल शक्ति मानते हैं। 'माया महा ठगिनि हम जानी' आदि ऐसी ही उक्तियाँ हैं।

(च) रहस्यवादी अभिव्यक्ति-ज्ञानमार्गी कवियों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए रहस्यात्मक कथनों का सहारा लिया है। हठयोग के विविध चरणों का उल्लेख, आत्मा-परमात्मा की एकता का कथन एवं उलटवासियाँ आदि रहस्यवादी शैली में ही प्रस्तुत हुए हैं। यथा-

'आकासे मुँह औंधा कुआ, पाताले पनिहारि'

(छ) भक्ति की प्रधानता-ज्ञानमार्गी काव्य निर्गुण उपासक का समर्थक होते हुए भी भक्ति के माधुर्य से ओतप्रोत है। परमात्मा को स्वामी, स्वयं को सेवक, परमात्मा को पति और स्वयं को पत्नी के रूप में प्रस्तुत करते समय इन कवियों की भक्ति-भावना देखते ही बनती है।

(ज) गुरु की महत्ता-सभी ज्ञानमार्गी कवि गुरु को सर्वोच्च स्थान दिये हुए हैं। कि सतगुरु की शरण लिए संसार-सागर से पार जाना असम्भव है। कबीर तो गुरु को ईश्वर से ऊपर स्थान देते हैं-'हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नाहिं ठौर'।

(झ) मुक्तक एवं गेय रचना-ज्ञानमार्गी कवि मूलतः कवि न होकर सन्त थे। प्रभु भक्ति के आवेश में, किसी पाखण्ड के खण्डन में अथवा किसी सदुपदेश के प्रवर्त्तन में उनकी वाणी जो भी गा उठी, वही काव्य बन गया। इसी कारण उनका काव्य गेय है और मुक्तक छन्दों में है।

(ञ) रस, छन्द, अलंकार-इन कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, उनको कवि कहलाने की लालसा ही थी। केवल भाव विभोरता के क्षणों में जो उद्‌गार प्रकट हुए उनको शिष्य समुदाय ने संग्रहीत कर लिया। इसी कारण ज्ञानमार्गी काव्य में छन्द निर्वाह अलंकार-प्रयोग का विशेष आग्रह नहीं है। रस प्रधानतः शान्त है परन्तु श्रृंगार और वात्सल्य के पवित्र भावना के भी मनोहारी दर्शन प्राप्त होते हैं।

(ट) भाषा-शैली-ज्ञानमार्गी कवि भ्रमणशील सन्त थे। इस कारण उनकी भाषा में विभिन्न बोलियों का मिश्रण है। व्याकरणसम्मत प्रयोग तथा साहित्यिक भाषा की खोज करना इन कवियों के साथ अन्याय होगा। शैली की विविधिता अवश्य देखने को मिलती है। उपदेशात्मक, खण्डनात्मक, मण्डनात्मक, भावात्मक आदि शैलियाँ इस काव्यधारा में विद्यमान हैं।

कबीर का स्थान- सन्त साहित्य में कबीर की केन्द्रीय भूमिका है। कबीर द्वारा रचित काव्य अकेले सन्त काव्य धारा का नेतृत्त्व करने में सक्षम हैं। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनुभूति जन्यता जिसको उन्होंने स्वयं उद्‌घाटित किया है। **''तू कहता हैं कागद की लेखी मैं कहता आँखन देखी।''**

कबीर का युग विषमताओं का युग था, समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार धार्मिक आडम्बर सामाजिक रूढ़ियाँ भेदभाव एवं अज्ञानता ने पूरे मानव समाज को जकड़ रखा था। मानवीय मूल्य एवं संवेदनाएँ मृत हो चुकी थी। ऐसे में कबीर के समक्ष साहित्य रचना के दो उद्देश्य थे पहला लोगों में जीवन के प्रति एक नवीन आशा का संचार और दूसरा समाज में व्याप्त सभी विषमताओं को दूर करके मानव को प्रेम का पाठ पढ़ाना तथा उनका मार्ग दर्शक बनना।

अपने युग की निराश हताश जनता को उन्होंने भक्ति का आलम्बन दिया और निराकार ब्रह्म के रूप में 'राम' की भक्ति का संदेश दिया है। किन्तु यह 'राम' दशरथ के घर जन्म नहीं लेते वो अजन्मा है किन्तु पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इस कार्य में उन्होंने ज्ञान प्रेम एवं गुरु को विशेष महत्त्व दिया। भक्ति भावना के अन्तर्गत उनके रहस्यवादी विचार अत्यन्त मादक एवं कोमल हैं। जीवात्मा को स्त्री रूप में चित्रित करके उसकी विरह वेदना का इतना मार्मिक वर्णन किया है कि हृदय पिघल जाता है।

गोकुल नाइक बीठुला मेरो मनु लागा तोहिरे
बहु दिन तक बिछुरे भए तेरी औसरि आवै मोहिरे।

कहीं पर पति से बिछुड़ जाने वाली विरहीणी का हठ भी है।

कै बिरहिन को भीचु दे कै आपा दिखलाया।
आठ पहर का दाझणां मो पै सहा न जाय।।

वियोग के बाद जब संयोग की बात आती है तो कबीर की सारी अक्खड़ता जैसे स्नेह स्निग्ध धारा में बह जाती है। किसी नवयौवना की भाँति श्रृंगार करके प्रियतम से मिलने की उत्कंठा देखते ही बनती है-

2021/9/20 14:43

नैनों की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै पिय को लिया रिझाय।।

या फिर, **दुल्हिनी गावहुँ मंगलचार।**
हमरे घर आये राजा राम भरतार

कबीर का वास्तविक स्वरूप एक समाज सुधारक एवं लोक नायक के रूप में हमारे समक्ष आता है। जब उनकी अक्खड़ता उनकी कठोरता सामाजिक धार्मिक विषमताओं पर वज्रपात करती है।

समाज के हर वर्ग की खबर लेने में उन्होंने तनिक भी संकोच नहीं किया है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के प्रति कबीर की वाणी में प्रबल इच्छा व्यक्त हुई है इस वाणी के माध्यम से हमें तत्कालीन यथार्थ का जीवंत परिचय प्राप्त होता है। मुल्ला और पुरोहितों द्वारा बनाये गये सिद्धांतों के भयानक विमर्श में समाज को बचाने के लिए कबीर ने अत्यन्त सरल सर्वग्राह्य एवं लोकप्रिय सहजमार्ग समाज को दिखाया।

कबीर की सहज अभिव्यक्ति में भाषा कहीं भी बाधक नहीं बनती कबीर का उद्देश्य काव्य रचना था ही नहीं वो स्वयं कहते थे **''मसि कागद छुयो नहीं कलम गहि नहीं हाथ''**। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी** कहते हैं, 'भाषा पर कबीर का जबरजस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है ''बना गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर।'' भाषा के मनचाहे प्रयोगों ने ही कबीर के व्यंग्यों को इतना तीक्ष्ण बना दिया था कि सुनने वाला तिलमिला उठे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य परम्परा में कबीर एक ऐसे विरल चरित्र के रूप में विकसित होते हैं, जो हिन्दुओं के लिए वैष्णव भक्त रामानन्द के शिष्य थे तथा शंकर के अद्वैतवादी दर्शन को मानने वाले थे। वह एक नये मानव धर्म के व्याख्याता थे। साथ ही वे 'पीर' भगत और 'अलवर' भी थे। हिन्दू मुसलमान और कबीर पंथी सभी के लिए वे अपने थे। इस प्रकार कबीर का अभ्युदय भारतीय भक्ति और चिन्तन के इतिहास की परम्परा में एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में होता है। निर्भीकता, वैचारिक विस्तार और सामान्य जनमानस की आवश्यकताओं के प्रति प्रतिबद्धता जितनी कबीर में थी उतनी अन्यत्र नहीं मिलती।

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के प्रमुख कवि और उनकी रचनायें

कवि का नाम	कृतियाँ
1. कबीर दास	साखी, सबद, रमैनी
2. रैदास या रविदास	रैदास परिचई
3. नानक	असादीवार, रहिरास, सोहिला।
4. हरिदास निरंजनी	सतोष्ण, ब्रह्म, ...
5. सींगा	सिंगाजी की वाणी, सिंगाजी की बारहमासी
6. दादू दयाल	अंग वधू,
7. मलूकदास	ज्ञानबोध, विभवविभूति, रतनखान, भक्तिविवेक सुखसागर, ब्रजलीला, राम अवतार लीला, ध्रुवचरित, स्फुटपद एवं सबद, बारहखड़ी, भक्त बच्छावली।
8. सुन्दरदास	सुन्दरविलास, ज्ञान समुद्र

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त कवियों का उद्देश्य यद्यपि कविता करना न था तथापि उनके अन्तःकरण से निकली वाणी से काव्य साहित्य की अभिवृद्धि ही हुई है।

प्रेममार्गी या सूफी काव्यधारा

भक्ति काल के निर्गुण काव्यधारा के द्वितीय शाखा के अन्तर्गत प्रेममार्गी या प्रेमाश्रयी शाखा आती है। इस शाखा को सूफी काव्यधारा के नाम से भी जाना जाता है। इस धारा के कवियों में हिन्दुओं की लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया है। मलिक मुहम्मद जायसी इस धारा के प्रधान कवि हैं।

2021/9/20 14:43

प्रेममार्गी काव्यधारा की सामान्य प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)-

प्रेममार्गी काव्यधारा की विशेषताएँ-प्रेममार्गी काव्यधारा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

(क) हिन्दू प्रेम कहानियों का वर्णन-इस शाखा के प्राय: सभी कवि मुसलमान लेकिन इन्होंने काव्यों में हिन्दू-प्रेम कथाओं को ही आधार बनाया है। इन हिन्दू-प्रेम कथाओं कल्पना और इतिहास का सुन्दर समिश्रण हुआ है।

(ख) मसनवी शैली-सूफी कवियों ने अपने ग्रन्थों की रचना फारसी की मसनवी शैली में है। मसनवी शैली में एक ग्रन्थ की मुख्य कथा आरम्भ करने से पूर्व ईश स्तुति, पैगम्बर की वन्द शाहेवक्त अर्थात् तत्कालीन राजा की प्रशंसा एवं कवि द्वारा आत्मपरिचय दिया जाता है।

(ग) हिन्दू संस्कृति का सम्यक् चित्रण-प्रेममार्गी काव्य के रचयिता अधिकांश मुसलमान सन्त ही थे, पर इन्हें भारतीय संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। इन काव्यों में वर्णि हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्त, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(घ) भारतीय एवं सूफी दोनों ही प्रेम पद्धतियों का चित्रण-इन सूफी काव्यों भारती एवं सूफी दोनों ही प्रेम पद्धतियों का चित्रण हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध सूफी पद्धति है, उत्तरार्द्ध में कवि ने भारतीय प्रेम पद्धति का चित्रण किया है।

(ङ) लौकिकता के माध्यम से अलौकिकता की व्यंजना-इन प्रेम गाथाओं सूफी कवियों ने लौकिक वर्णनों के द्वारा अलौकिक (ईश्वरीय) प्रेम तथा उस प्रेम के साध मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का चित्रण किया है। यही लौकिक द्वारा अलौकिक व्यंजना (अभिव्यक्ति) है।

(च) रहस्यवाद-इन सूफी कवियों ने अपने ग्रन्थों में प्रेममूलक भावना प्रधान रहस्य की सरल एवं सरस अभिव्यक्ति की है। इसके द्वारा वर्णित रहस्यवाद में सन्त कवियों द्वारा वर्णि 'रहस्यवाद' की सी नीरसता एवं दुर्बोधता नहीं है।

(छ) प्रबन्ध शैली-सूफी कवियों ने प्राय: प्रबन्ध काव्यों का ही निर्माण किया है। मुक्त काव्य का नहीं।

(ज) छन्द-सूफी काव्यों में दोहा, चौपाई, छन्दों का ही अधिकता से प्रयोग मिल जाता है

(झ) अलंकार-सूफी काव्य रचनाओं में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा रूपक अलंक के अतिरिक्त समासोक्ति का अधिकता से प्रयोग हुआ है।

(ञ) रस-सूफी प्रेमगाथाओं में प्रमुख रस के रूप में शृंगार का वर्णन मिलता है। शृंगार दोनों पक्षों- संयोग तथा वियोग में वियोग पक्ष का सुन्दर चित्रण है। करुण, शान्त, वीर आदि का भी यथास्थान सुन्दर परिपाक हुआ है।

(ट) अवधी भाषा-इस शाखा के प्राय: सभी कवियों ने अवधी भाषा का प्रयोग किया इसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि इन कवियों का केन्द्रस्थल अवध प्रान्त ही था।

प्रेममार्गी काव्यधारा के प्रमुख कवि और उनका काव्य

कवि का नाम	रचनाएँ
मुल्ला दाउद	चंदायन
मलिक मुहम्मद जायसी	पद्मावत, अखरावट
कुतुबन	मृगावती
मंझन	मधुमालती
उसमान	चित्रावली
नूर मुहम्मद	अनुराग बाँसुरी
असाइत	हंसावली
दामोदर कवि	लखनसेन पद्मावती कथा
ईश्वरदास	सत्यवती कथा
गणपति	माधवानल कामकन्दला
कल्लोल	दोला मारूरा इडा,
नन्ददास	रूपमंजरी

2021/9/20 14:43

जटमल	प्रेमविलास प्रेमलता की कथा
नारायणदास	छिताई वार्ता
शेख नबी	ज्ञानदीप
जान कवि	रतनावली, कथा कनाकवती, कथा मोहिनी, कथा नल-दमयन्ती, कथा कलावन्ती, कथा रूपमंजरी, कथा कलन्दर आदि।
नरपति व्यास	नलदमयन्ती
मुकुन्द सिंह	नल चरित्र

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूफी कवियों ने सम्प्रदायिक सौमनस्य स्थापित करने के लिए अपने काव्यों में भारतीय एवं सूफी सिद्धान्तों का समन्वय किया है। इस धारा के कवियों ने हिन्दी काव्य साहित्य को पल्लवित किया है।

खण्ड–'घ'

4-रीतिकाल (1600 ई० से 1850 ई० तक)

प्रश्न 11- रीतिकाव्य धारा के विकास में केशवदास की भूमिका को रेखांकित कीजिए। अथवा
हिन्दी में रीतिकाल की परम्परा स्थापित करने वालों में केशव जी को प्रथम कवि माना जाता है। इस कथन को उपयुक्त प्रमाण द्वारा सिद्ध कीजिए। अथवा
हिन्दी में रीतिकाल का प्रवर्तक किसे मानते हैं? केशवदास या किसी अन्य को अपने उत्तर की पुष्टि में उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर–संस्कृत काव्य शास्त्र के विकास प्रायः पाँच सम्प्रदायों में हुआ है। रस सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय। जहाँ तक रीति सम्प्रदाय का प्रश्न है इसका प्रवर्तक 'वामन' को माना जाता है। उन्होंने रीति को वैदर्भी, पाँचाली एवं गौड़ी में विभक्त किया है। संस्कृत साहित्य से ही हिन्दी में रीति परम्परा का आगमन हुआ। हिन्दी साहित्य में रीति परम्परा का प्रवर्तन कोई आकस्मिक घटना नहीं है इसका एक निश्चित आधार है और यह एक सुविकसित परम्परा के सहारे चली है। वैसे तो यह कथन शायद हमें अतिश्योक्ति पूर्ण लगे परन्तु हिन्दी में रीति का उदय उसके जन्म काल से ही हो गया था, परन्तु इतना तो निश्चित है कि उसकी इस प्रवृत्ति के प्रेरणा स्रोत संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। यह प्रेरणा उसे अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य से तो नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं है। उस समय लिखे गये एक दो ग्रन्थों में छन्द व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के मध्य में नायिका भेद शृंगार आदि का वर्णन है। परन्तु भक्ति एवं वीरगाथा वर्णन की परम्परायें अपभ्रंश से रीति काव्य में नहीं आई। इसका मुख्य प्रेरणा स्रोत संस्कृत साहित्य ही है।

भक्तिकाल के उत्तरकाल में रीति काव्य की परम्परा का अभ्युदय हुआ और हिन्दी में इस धारा के प्रवर्तन का श्रेय निश्चित रूप से आचार्य केशवदास को जाता है। यद्यपि इस दिशा में केशवदास से पहले भी कुछ छिटपुट प्रयास हुए किन्तु उनमें रीति काव्य धारा के प्रेरणा प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं था। हिन्दी साहित्य के कई विद्वान् लेखकों ने पुण्य या पुष्प को जिसने संस्कृत के किसी अलंकार ग्रन्थ के आधार पर हिन्दी में अलंकार ग्रन्थ का प्रणयन किया था हिन्दी का पहला रीति कवि स्वीकार किया है परन्तु पुण्य अथवा पुष्प द्वारा लिखा ग्रन्थ का अस्तित्त्व ही संदिग्ध है। यदि वास्तव में तत्कालीन समय का कोई ग्रन्थ मिल सके तो वह न केवल रीतिकाव्य का वरन् हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ ठहरता है।

रीतिकाल का प्रवर्तक कौन है इस पर विचार व्यक्त करते हुए **डॉ० गुलाब राय** ने लिखा है–"रीतिकाल सम्वत 1700 से माना जाता है। इसका आशय यह नहीं है कि 1700 से पूर्व रीति ग्रन्थों की रचना ही नहीं हुई थी कुछ लोगों का मत है रीतिकाल का उदय हिन्दी के जन्म के साथ ही हुआ है, क्योंकि हिन्दी के प्रथम कवि पुष्प या पुण्य का ग्रन्थ रीतिशास्त्र (अलंकारों) ही का ग्रन्थ माना जाता है। सूरदास द्वारा रचित 'साहित्य लहरी' में भी अलंकार का वर्णन है और नन्ददास की 'रसिक मंजरी' में नायिका भेद का वर्णन है। यद्यपि केशव के पूर्व कृपाराम, सोहनलाल तथा अकबरी दरबार के 'करनेस' आदि कवियों ने रस और अलंकार के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं, तथापि साहित्यशास्त्र की विधिवत् विवेचना कर हिन्दी में आचार्यत्त्व की स्थापना करने का श्रेय केशवदासजी

को है। हिन्दी में रीतिकाल की परम्परा स्थापित करने वालों में केशवदासजी को ही प्रथम
माना जायेगा।"

यों तो **डॉ० श्यामसुन्दर दास** ने भी केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्तक मानते हुए कहा
"यद्यपि समय-विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और गोस्वामी तुलसी
आदि के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थों के लिखने के कारण ये कोरे रीति
कवि नहीं कहे जा सकते परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना प्रभाव
था कि अपने काल की हिन्दी काव्य-धारा से पृथक् न होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गये
हिन्दी में रीति ग्रन्थों की परम्परा के आचार्य कहलाये।" परन्तु आचार्य शुक्ल केशव को रीति
का प्रवर्तक नहीं मानते और उनका कहना है कि केशवदास के पश्चात् रीति-ग्रन्थों की
चली नहीं। 'कविप्रिया' के 50 वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा आरम्भ हुई।.....हिन्दी
ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से
चाहिए।"

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों में इस दिशा में मत भिन्नता सी दिखाई देती
रीतिकाल का मूल प्रवर्त्तक केशव को माना जाय या चिन्तामणि को। न केवल आचार्य
अपितु कई अन्य विचारक भी चिन्तामणि से ही रीति-काल का आरम्भ मानते हैं पर केश
रीतिकाल का प्रवर्त्तक मानने वाले समीक्षकों की संख्या भी कम नहीं है।

यों तो रीतिकाव्य-परम्परा का आरम्भ विक्रम को सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम
में, जबकि संवत् 1598 वि० में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' का प्रणयन किया था, हो गया
यद्यपि 'हिततरंगिणी' के कुछ दोहों में बिहारी के दोहों से साम्यता होन के कारण कुछ
उसके रचनाकाल पर सन्देह करते हैं, पर हमारा विश्वास है कि बिहारी ने ही कृपारा
भावों को ग्रहण किया होगा अतः हम 'हिततरंगिणी' के रचना-काल को विवादग्रस्त
समझते। 'हिततरंगिणी' के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में सूरदास की 'साहित्यलहरी'
1607 वि०) नन्ददास का 'रसमंजरी' (सं० 1637 वि०) और बलभद्र मिश्र की नख
(सं० 1640 वि०) आदि कई कृतियाँ निर्मित हुई, जिनमें रीति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिल
पर उनमें विषय व शैली की दृष्टि से सर्वत्र कोई एक व्यवस्थित रूप नहीं मिलता तथ
परम्परा को एक व्यवस्थित व प्रौढ़ रूप देने का श्रेय आचार्य केशवदास को है, जि
'रसिकप्रिया' (सं० 1548 वि०) और 'कविप्रिया' (सं० 1558 वि०) में रीतिकाव्य स
प्रायः समस्त विषयों का विवेचन प्रौढ़ता से किया है।

इस प्रकार हम रीतिकाव्य परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय कृपाराम को और उसे व्यवस्थि
देने का यश केशव को प्रदान करने के पक्ष में हैं तथा शुक्लजी के इस मत को मान्य नहीं
कि रीति-ग्रन्थों का अविरल अखण्डित प्रयास केशव की 'कविप्रिया' के पचास वर्ष पीछे
क्योंकि नूतन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि रीति-परम्परा केशवदास से चिन्तामणि
अखण्डित रूप से आगे बढ़ती रही है। वस्तुतः केशव से चिन्तामणि के बीच की अवधि
चन्द्रिका, तिलशतक, रंग-भाव माधुरी, नखशिख, सुन्दर शृंगार, बरवै, नायिका-भेद, सुध
आदि-कई ऐसे ग्रन्थ लिखे गये जिनमें रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इसी प्रका
यह भी मानने के लिए तैयार नहीं है कि केशव अलंकारवादी थे क्योंकि केशव ने जहाँ 'कवि
में अलंकारों का विवेचन किया है वहाँ 'रसिकप्रिया' में रस सिद्धान्तों के सभी अंगों व भे
प्रतिपादन किया है अतः कविरुप में भले ही केशव अलंकारवादी रहे हों पर जहाँ तक आच
का सम्बन्ध है उन्होंने अलंकार व रस दोनों को मान्यता दी है। कुछ विचारक केशव के निम्
छन्द के आधार पर उन्हें अलंकारवादी सिद्ध करते हैं-

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरल सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता, वनिता मित्त।।

लेकिन वास्तव में कवि ने यहाँ अलंकारों को काव्य की आत्मा नहीं माना बल्कि
उतना ही महत्त्व स्वीकार किया है जितना कि वनिता के लिए आभूषणों का। अलंकार
आभूषणों की भाँति शोभाकारक उपकरण माना है। यदि केशव को अलंकारवादी कहा ज
रीतिकाल के सभी कवि अलंकारवादी सिद्ध हो जाते हैं। अतः केवल केशव को ही अलंकार
मानना समीचीन नहीं जान पड़ता है।

आचार्य शुक्ल और उनके कुछ समर्थकों ने केशव पर यह आक्षेप भी किया
रीतिकालीन कवियों ने अलंकार-निरूपण से केशव की शैली को न अपनाकर कुवलयान
शैली एवं दोहे में लक्षण के उदाहरण देने की प्रणाली का प्रयोग किया पर यह आक्षेप

2021/9/20 14:43

उनकी 'कविप्रिया' के आधार पर ही किया गया, साथ ही केशव के परवर्ती कवियों में से कुछ ने अलंकार निरूपण में कुवलयानन्द की पद्धति अपनायी है और कुछ ने केशव का अनुसरण कर लक्षण व उदाहरण अलग-अलग छन्दों में दिये हैं। मतिराम की 'ललित ललाम', भूषण का 'शिवराजभूषण', रघुनाथ का 'रसिक मोहन', दूलह का 'कवि कुल कंठाभरण' और प्रतापसिंह का 'अलंकार चिन्तामणि' आदि कृतियों में केशव की प्रणाली को ही आत्मसात किया गया है। अतः केशव पर उक्त आक्षेप भी निराधार सिद्ध होता है। केशव ने कविप्रिया में जो ढाँचा प्रस्तुत किया था और जिन विषयों का जिस पद्धति में विवेचन किया था, परवर्ती कवियों ने प्रायः कुछ अपवादों को छोड़कर उसी ढाँचे, पद्धति व विषयों को आत्मसात किया है। अतः हम तो रीति-परम्परा के जन्म देने का श्रेय कृपाराम को और उसे विकसित कर पूरी प्रतिष्ठित करने का श्रेय केशव को ही देने के पक्ष में हैं। इस प्रकार डॉ० भागीरथ मिश्र का प्रस्तुत कथन उपयुक्त प्रतीत होता है- "रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले सबसे पहले रीतिशास्त्र के आचार्य केशवदास ही हैं जिन्होंने भाषा के कवियों और आचार्यों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नूतन मार्ग उद्घाटित किया है।"

प्रश्न 12- रीति युगीन काव्य के प्रमुख प्रवृत्तियों (विशेषताओं) पर प्रकाश डालिए।
अथवा
रीतिकालीन काव्य के प्रमुख प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।
अथवा
'रीति कालीन काव्य की प्रकृति एहिक है।' इस कथन की तर्क सहित उत्तर कीजिए।
अथवा
रीतिकालीन काव्य के उद्भव एवं विकास पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर-रीतिकालीन कवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है-
(1) **मुख्य प्रवृत्तियाँ**-(क) रीति निरूपण, (ख) शृंगारिकता, (2) **गौण प्रवृत्तियाँ**-(क) राजप्रशस्ति (वीर काव्य), (ख) भक्ति, (ग) नीति।

रीति निरूपण- रीति ग्रन्थकारों की दृष्टि के आधार पर यदि रीति काव्य की अन्तः प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि रीति-ग्रन्थों की रचना मुख्यतः तीन दृष्टियों से की गयी है-प्रथम दृष्टिमात्र रीति कर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रन्थ हैं जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग विशेष का परिचय कराना ही रचनाकारों का उद्देश्य रहा है। अपना कवित्त्व प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नहीं था। ऐसी रचनाओं में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है अथवा इतना संक्षिप्त है कि कवित्त्व जैसी बात ही नहीं रही। इस कोटि के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं-जसवन्त सिंह-भाषा-भूषण, याकूब खाँ, रसभूषण, रसिक सुमति, अलंकार चन्द्रोदय, दलपतिराय वंशीधर-अलंकार रत्नाकर गोविन्द-कण्ठाभरण, दूलह-कवि कुल कण्ठाभरण, रसरूप-तुलसी, भूषण आदि। द्वितीय प्रवृत्ति में रीति-कर्म तथा कवि-कर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरण दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित हैं। चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, कुलपति, श्रीपति, ग्वाल, पद्माकर आदि के नीति-निरूपण विषयक ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। तृतीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया। सभी ग्रन्थों की रचना काव्य-शास्त्र के नियमों में बद्ध होकर किया गया है। बिहारी, मतिराम, भूपति, चन्दन आदि की सतसइयाँ, नखशिख वर्णन सम्बन्धी सभी ग्रन्थ तथा स्फुट छन्द इसी प्रवृत्ति के परिचालक हैं। ये मुख्यतः शृंगारी हैं।

काव्यांग विवेचन की दृष्टि से दो अन्तः प्रवृत्तियाँ मिलती हैं- सर्वांग विवेचन तथा विशिष्टांग। सर्वांग विवेचन की प्रवृत्ति वाले ग्रन्थों में सामान्य रूप से काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द-भक्ति, काव्य की आत्मा (रस ध्वनि) काव्य-गुण, काव्य दोष, काव्य-रीति, अलंकार-छन्द का निरूपण किया गया। दूसरी है नायक-नायिका भेद का विस्तार वर्णनोपरान्त उसके भेदों-उपभेदों के वर्णन की।

विवेचन- शैली के आधार पर रीति निरूपण की मुख्य तीन शैलियाँ मिलती हैं-(क) काव्य प्रकाश-साहित्य दर्पण की शैली। इसमें उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति देकर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इन शैली के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं-'चिन्तामणि-कविकुल कल्पतरू, देव-शब्द रसायन, कुलपति रहस्य, भिखारीदास-काव्य निर्णय, प्रतापसाहिब्यंयार्थ कौमुदी और काव्य विलास आदि। (ख) चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की संक्षिप्त शैली-जस-वन्तसिंह, भाषा-भूषण, बेरीसाल-भाषाभरण, दूलहे-कवि कुलकन्ठाभरण,

2021/9/20 14:43

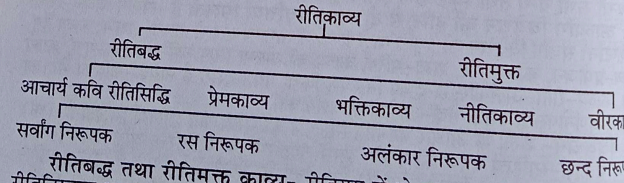
याकूब खाँ, रस-भूषण, पद्माकर आदि इस शैली के अन्तर्गत उल्लेखनीय हैं। (ग) घ
की रसमन्जरी तीसरी शैली है जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण देकर विषय निरूपण
गया है। रीति कवियों ने इनका निर्वाह भानुदत्त के समान केवल शृंगार रस और ना
नायिका भेद-विवेचन के लिए नहीं किया बल्कि रस, छन्द, अलंकार के विवेचन
किया। उक्त दोनों शैलियों में अनेक ग्रंथों को छोड़कर शेष सभी रीति ग्रंथ इसी शैली में
गये हैं।

रीति निरूपण की समस्त अन्तःप्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर तीन नि
प्राप्त होते हैं- (1) इस युग के सभी कवियों ने सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का
कराने के लिए अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। (2) रीति काव्य में सामान्यतः ध्वनि पर
परम्पराओं के उन्हीं संस्कृत ग्रन्थों को आधार बनाया गया है जो विवेचन की व्यवस्था
सुबोधता के कारण एक प्रकार से पाठ्य बन चुके थे। इन कवियों ने आचार्य कर्म की अ
कवि-शिक्षक के कर्म का निर्वाह किया है। (3) विभिन्न काव्यांगों का निरूपण करते हु
ये लोग मूलतः रसवादी थे।

अन्य प्रवृत्तियाँ- अन्य प्रवृत्तियों के अन्तर्गत राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्र
मूलतः अलंकार और छन्द-विवेचन के ग्रन्थों में ही देखने को मिलती है। रस-विवेचन के
में यह ग्रन्थ विशेष की भूमिका के रूप में अथवा वीर और रौद्र रसों के निरूपण के प्रसंग
देखी जा सकती है। इसका मुख्य विषय आश्रयदाताओं की दानवीरता और युद्धवीरता ही र
किन्तु इनकी अभिव्यक्ति उनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सा
रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आश्रयदाताओं के आतंक और निर्बल तथा क
शत्रुओं पर दबाव से वह रसात्मक प्रभाव नहीं छोड़ पाती जो चारणकाल की वीर रस की रच
छोड़ जाती है। इसके अतिरिक्त आश्रयदाताओं में लोकमान्य गुणों का आरोप तथा उनके अत्य
वैभव का बखान भी अपने आप में झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है, किसी प्रकार श्रद्धा
उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है।

भक्ति की प्रवृत्ति- रीति ग्रंथों के मंगलाचरणों, ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनों
और शान्त रसों, निर्वेदादि संचारियों तथा अलंकार विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में दिये गये उदाह
में मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के अवतार राम और कृष्ण के प्रति विशेष आस्था रखते
भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति के प्रति भी वैसी ही श्रद्धा रखते हैं। अतः यह नि
निकालना कि ये किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी थे उचित नहीं है। बल्कि ईश्वर की विभि
शक्तियों के रूप में साधारण आस्तिक हिन्दुओं में देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति का
रहता है वही इनमें था। वास्तव में भक्ति इस युग में धार्मिकता की ही परिचायक नहीं थी, विल
जर्जित दरबारी वातावरण के बाहर विषयवासनाजन्य दुःखों से आकुल मन के लिए शरण-
भी थी। इसीलिए समय-समय पर रचित इन छन्दों में भक्त-कवियों की तन्मयता का आभ
होता है।

रीतियुग से ही एक वर्ग ऐसे कवियों का था जो न परम्परा से बँधे थे और न कविता का
सिखाते थे। वे विशुद्ध रूप से कवि थे। रीति की परम्परा से मुक्त थे। काव्य और जीवन दोनों
स्वच्छन्द थे। उन्हें रीतिमुक्त या स्वच्छन्दवादी कवि कहा जा सकता है। ये मुख्य रूप से प्रेम
गायक थे-स्वच्छन्द प्रेम के बन्धनमुक्त। प्रेम गीतों के अतिरिक्त इन कवियों ने भक्ति, नीति
वीरकाव्यों की भी रचना की है। इस प्रकार रीतियुगीन कवियों का निम्नलिखित वर्गीकरण कि
जा सकता है-



रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त काव्य- रीतियुग में दो मुख्य प्रवृत्तियाँ विद्यमान थ
रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व की तथा कवित्त की। लेकिन सभी कवि आचार्य नहीं
जो कवि काव्यरीति सिखा रहे थे अथवा उसके प्रभाव में काव्य रचना कर रहे थे
रीतिबद्ध कहा गया है और जो रीति की परम्परा से मुक्त थे, केवल कविता कर रहे थे

रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्दतावादी कवि माना गया। इन दोनों वर्गों के कवियों की रचनाएँ काव्य-प्रयोजन और अभिव्यंजना शैली आदि की दृष्टि से नितान्त भिन्न हैं। रीतिबद्ध कवियों को मुख्य प्रयोजन काव्यांग निरूपण था तथा मुख्य ध्यान लक्षण पर रहता था और तदनुसार उदाहरण बनाये जाते थे। इसलिए मूलतः वह शास्त्र-काव्य है। किन्तु रीतिमुक्त के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं था। काव्य के दो पक्ष होते हैं-अन्तरंग तथा बहिरंग। कवि बहिरंग पक्ष पर जोर देते थे जबकि रीतिमुक्त कवि का साध्य अन्तरंग पक्ष था। तात्पर्य यह है रीतिबद्ध कवि चमत्कारातिशय पर जोर देते थे और रीतिमुक्त रसाभिव्यक्ति पर। रीतिबद्ध कवि इस रूढ़ कल्पनाओं में चमत्कार पैदा करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे जबकि रीतिमुक्त कवि के लिए काव्य के बाह्य उपकरण महत्त्वहीन थे। वह भावों के गहराई में ऊबकर आनन्द की अभिव्यक्ति करके अपनी रचना को अधिकाधिक रमणीय और सरल बनाता था। एक में कला पक्ष का प्रधान था तो दूसरे में भावों की गरिमा, शब्द-कौशल और भाव भंगिमा पर ध्यान केन्द्रित रहता था। वह अपने अन्तर्मन की भावना को सहज भाव से व्यक्त करता था। रीतिबद्ध कवि काव्य-रूढ़ियों और उपमानों के लिए भी परम्परा से बँधे हुए थे जबकि रीतिमुक्त कवि नवीन उद्भावनाओं के आविष्कार में निष्णात थे। नख-शिख अथवा भाव वर्णन में रीतिबद्ध कवियों ने घिसी-पिटी पद्धति की प्रायः पुनरावृत्ति ही की है जबकि रीतिमुक्त कवियों ने इस क्षेत्र में मौलिक सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिमुक्त कवि आचार्य कवियों से अपने को नितान्त भिन्न समझते थे। ठाकुर कवि कहते हैं-

सीख लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीनी जस और प्रताप की कहानी है।
सीख लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,
सीख लीनी मुरू अरू सुमर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी हैं कठिन बात,
याको नहि भूलि कहूँ बाँधियत बनो है।
डेल सो बनाय आये मेलत सभा के बीच,
लोनन कवित्त की खेल करिबो जानो है।-ठाकुर ठसक

उनकी दृष्टि में रीतिबद्ध कवियों के दो खास लक्षण थे- मीन, मृग, खंजन, कमल आदि प्रचलित उपमाओं के द्वारा नखशिख वर्णन, आश्रयदाता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा तथा कविता को ऐसा चमत्कारपूर्ण बना देना कि दरबारी फड़क उठे। "डेल सो बनाये आये मेलत सभी के बीच" में चौंकाने वाली वृत्ति की ही व्यंजना है। इस छन्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि रीतिबद्ध कवि भंगिमा पर बल देता था जबकि स्वच्छन्दवादी कवि का आधार अनुभूति थी। इसी सम्बन्ध में घनानन्द की उक्ति भी बड़ी सटीक है-"लोग हैं लागि बनावत मोहि तो कोरे कवित बनावत।" यहाँ भी लोग से तात्पर्य है रीतिबद्ध कवि से है।

काव्य-प्रवृत्तियाँ- काव्य-रचना के तीन सेतु माने गये हैं-प्रतिभा, अभ्यास और निपुणता। रीतिमुक्त कवि की रचना का मुख्य आधार प्रतिभा थी, जबकि रीतिबद्ध कवि अभ्यास और निपुणता के बल पर काव्य-रचना करते थे। 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत' में 'लागी का तात्पर्य है लगाकर परिश्रमपूर्वक सायास बनायी हुई कविता, जबकि 'मोहि तो मोरे कवित बनावत' में इस बात का संकेत है कि रीतिमुक्त कवि रचना के लिए प्रयत्नशील नहीं होता था, कविता स्वतः उसके अन्तर से उन्मुक्त निर्झरिणी के समान प्रवाहित होने लगती थी। वह स्वयं भावों का अनुसरण करता था। वस्तुतः रीतिमुक्त काव्य तुलसीदास की परम्परा में आता है। गोस्वामी तुलसीदास काव्य रचना के लिए हृदय पक्ष को प्रधानता देते थे और बुद्धि पक्ष को गौण। ऐसे ही रीतिमुक्त काव्य में हृदय पक्ष प्रबल है और रीतिबद्ध काव्य में बुद्धि पक्ष। घनानन्द कविता को नव-वधू के समान लजीली मानते हैं जो हृदयरूपी भवन में मौन का आवरण डालकर स्थित रहती है- रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों वर्गों के कवियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शृंगार-वर्णन रहा है लेकिन दोनों के प्रेम-वर्णन में पर्याप्त अन्तर मिलता है। रीतिबद्ध कवियों ने सामन्ती प्रेम का वर्णन किया है जिसका मुख्य प्रेरक स्रोत शारीरिक सौन्दर्य है। उनके लिए प्रेम चौगान के खेल के समान है जिसमें लुका-छिपी दाव-पेंच और अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः ये प्रेमी नहीं रसिक थे। सामन्तों की विलासिता और कामुकता का चित्रण इनका मुख्य ध्येय था किन्तु रीतिमुक्त कवियों का स्वानुभूतिपरक था। घनानन्द,

2021/9/20 14:43

ठाकुर, आलम, बोधा सभी प्रेमी जीव थे। घनानन्द और बोधा वेश्या प्रेमी थे तथा दो
और आलम विजातीय स्त्री प्रेमी थे। इस प्रकार काव्य और जीवन में स्वच्छन्दतामार्ग
इनका प्रेम वर्णन अशरीर और सूक्ष्म है जिसमें अश्लील मुद्रा और संयोग चेष्टाओं
प्राय: अभाव माना जाता है। इनमें मनोवेगों का प्रवाह मिलता है। इनके लिए प्रेम क्रीड़ा
नहीं है जीवन-मरण का प्रश्न है, प्रेम का पथ कंटकाकीर्ण है, तलवार की धार पर दौड़
के समान है-"प्रेम को पथ कराल महातरवार की धार पर धावनी है।" घनानन्द
मानते थे कि प्रेम की सच्ची अभिव्यक्ति का आधार अनुभूति है। अनुभूति-रहित व्य
सच्चा, कवि नहीं हो सकता। शास्त्र अथवा बुद्धि ने नेत्रों से प्रेम का दर्शन नहीं किया
सकता। प्रेम में बुद्धि दासी है और अनुरक्ति रानी। रीतिबद्ध कवियों ने संयोग शृंगार
अन्तर्गत सुरति, षट्ऋतु, मद्यपान, क्रीड़ा, हावभाव और अष्टयाम का वर्णन किया
इनका नख-शिख वर्णन किया भी परम्परागत है जबकि रीतिमुक्त काव्य सौन्दर्य
प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। वियोग-वर्णन में भी रीतिबद्ध कवियों ने उन्हीं
आश्रय लिया है। वहाँ ताप, कुशलता आदि का अतिरंजनात्मक वर्णन मिलेगा कि
रीतिमुक्त काव्य में संवेदनात्मक वियोग-वर्णन का आधिक्य है। वस्तुत: ये प्रेम पीर
गायक हैं, न इनमें छल है और न कपट केवल प्रेम करना जानते हैं और निश्छल हृदय
उसी मार्ग पर चलते हैं। साथ ही प्रेम के प्रतिदान स्वरूप पाने की कोई इच्छा नहीं रखते

जैसा कि एक कवि कहता है-

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
यहाँ सूधो चलै तजि आपत पी, झिझकै कपटी जे निसांक नहीं।।

प्रेम का यही आदर्श रूप है किन्तु रीतिमुक्त कवि इन दोनों को आदर्श नहीं मानते
वह संयोग और वियोग दोनों में तड़पता रहता है, तिल-तिल घुटता रहता है किन्तु मु
का नाम नहीं लेता। यही उनका स्वच्छन्दतावाद है। प्रेम की इस पीड़ा और अनन्यता
प्रतिपादन रीति काव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। रीतिबद्ध कवियों ने प्रेम वर्णन में सखी
दूती का अवतारणा की है। इनके द्वारा प्रेमिका को आकृष्ट किया जाता था तथा पु
निर्धारित स्थान पर बुलाया जाता था किन्तु रीतिमुक्त काव्य में मध्यस्थ का आश्रय नहीं
लिया गया है। इनकी दृष्टि में मध्यस्थ प्रेम की गहनता को समझ नहीं सकता। रीतिबद्ध
कवि इसके चक्कर में नहीं पड़े। रीतिकालीन कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया लेकि
दोनों की काव्य भाषा में भी सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। घनानन्द ब्रजभाषा प्रवीण तो
फारसी प्रवीण भी थे लेकिन उनमें विदेशी प्रयोग विरल है, भाषा स्वाभाविक और सर
है जिसमें लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का प्राधान्य है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा में अभि
की प्रधानता तथा अलंकारों से बोझिल है।

रीतिबद्ध काव्य

रीतिबद्ध काव्य के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसा
रीतिबद्ध रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होती है। **डॉ० नगेन्द्र** के अनुसार रीतिबद्ध आचा
कवि वे हैं जिन्होंने रीति ग्रन्थों की रचना करके सिद्धान्तों या लक्षणों के अनुसार उत्कृष्ट काव्
रचना की है। ऐसी दशा में वे मूलत: कवि हैं, आचार्य नहीं। ऐसे कवियों को आचार्य विश्वनाथ
प्रसाद मिश्र ने रीतिसिद्ध कवि कहा है।

रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी तथा सेनापति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कवियों के
अतिरिक्त-रसनिधि, वृन्द, नृपशम्भु, नेवाज, कृष्ण छवि, हठी जी, विक्रमादित्य, रामसहाय पजनेस
और बेनी बाजपेयी आदि प्रमुख कवि रीतिबद्ध वर्ग में आते हैं।

रीतिमुक्त काव्य

इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने रीतिमुक्त तो कुछ ने स्वच्छन्द काव्य धारा किया है। रीति
मुक्त का सीधा अर्थ है-रीति परम्परा के साहित्यिक बन्धनों तथा रूढ़ियों से मुक्त। जब परम्पराओं से
मुक्त हैं तो स्वच्छन्द हैं। स्वच्छन्दता में सांकेतिकता अधिक होता है। इसमें रूप सज्जा की प्रधानता
नहीं रहती। व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दृष्टि केन्द्रित रहती है। स्वच्छन्द कवि
अंतर्मुखी होता है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य में अभिनवत्वया ताजगी रहती है क्योंकि उसकी प्रेरणा
जीवन में मिलती है। स्वच्छन्दतावादी काव्य आन्तरिक अनुभूतियों का काव्य होता है। यह सब प्रकार
की रूढ़ियों से मुक्त मूलत: आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है। रीतिमुक्त काव्य परम्परा का प्रमुख
कवि घनानन्द को माना जाता है।

2021/9/20 14:43